तर्क शास्त्र के तृतीय खंड की भूमिका

जिस समय मैंने काशी नागरीप्रचारिणी सभा को तर्क शास्त्र पर एक पुस्तक लिखने का वचन दिया था, उस समय मेरा विचार २०० या २२५ पृष्ठ से अधिक लिखने का न था; किंतु 'तर्क शास्त्र' ऐसे विषय को इतने पृष्ठों में संकुचित करना उस विषय के साथ अन्याय करना था। २२५ पृष्ठों में पहला ही भाग पूर्ण न हो सका और निगमनात्मक तर्क का कुछ अंश दूसरे भाग के लिये छोड़ना पड़ा। जैसे तैसे दोनों भागों में यूरोपीय पद्धति का तर्क समाप्त हुआ। यद्यपि इन दोनों भागों में यत्र तत्र भारतीय न्याय ग्रंथों का उल्लेख कर दिया गया है, तथापि इस बात की कमी रही कि भारतीय तर्क का क्रमबद्ध वर्णन करके हिंदी पाठकों को उसका परिचय दिया जाय। यदि मैंने तर्क शास्त्र न लिखा होता तो इस कमी को पूरा करने के लिये अपने से किसी योग्य व्यक्ति के लिये छोड़ देता, किंतु अपने ग्रंथ को अपूर्णता के दोष से बचाने के लिये यह भार मुझे ही लेना पड़ा। बहुत से ऐसे वैज्ञानिक विषय हैं जिनके लिये हमारे प्राचीन ग्रंथों में पर्याप्त सामग्री नहीं है, किंतु 'तर्क शास्त्र' उन विषयों में से नहीं है। भारतीय 'तर्क शास्त्र'

के लिये हमको अन्य देशों के सामने सिर झुकाने की आवश्यकता नहीं। जब हम इन ग्रंथों को पढ़ते हैं तो गौरव से हमारा मस्तक उन्नत हो जाता है। हिंदी में तर्क शास्त्र लिखकर भारतीय तर्क का वर्णन न करना अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्नता होती। यद्यपि मुझको भारतीय तर्क शास्त्र का ऐसा परिचय न था कि जिससे मैं उस विषय में अधिकार के साथ कुछ कह सकता, तथापि अपना कर्तव्य समझ इस काम को मैंने अपने हाथ में लेना उचित समझा और "सत्यक्षमाभ्यां सकलार्थ-सिद्धिः" के विश्वास पर इस ग्रंथ को लिखना आरंभ कर दिया। मुझे इसमें सफलता हुई अथवा नहीं, इस बात का निर्णय विज्ञ पाठकों के हाथ में है। यदि मुझसे वर्णन में कोई भूल हो गई हो तो उसे मेरी अज्ञता का ही दोष समझें।

इस पुस्तक में जहाँ तक हो सका है, वर्णन का क्रम प्राचीन पद्धति के अनुसार ही रखा गया है, किंतु आजकल की रुचि और आवश्यकताओं को देखकर वर्णन की शैली कुछ सुलभ कर दी गई है। इस कार्य्य में बहुत सी उत्तमोत्तम बातें आने से रह गई हैं। उनका पूर्णतया वर्णन करने की कुछ तो मुझमें ही सामर्थ्य न थी; और यदि टूटा फूटा वर्णन किया जाता तो पाठकों की बुद्धि को चक्कर में डाल देना होता; इसलिये जिन बातों का मैं सहज में वर्णन कर सका, उन्हीं पर संतोष कर ग्रंथ की सीमा को नहीं बढ़ाया।

जिन लोगों की संस्कृत में पूर्ण गति है और मूल स्रोत से जो अपनी ज्ञान-पिपासा को तृप्त कर सकते हैं, उन लोगों के लिये तो यह ग्रंथ 'सुमेरु को सोना दिखलाने' का प्रयत्न होगा। किंतु जिन लोगों की पहुँच शुद्ध जाह्नवी-जल तक नहीं है, उन लोगों के लिये मुझे आशा है कि यह पुस्तक नल के जल का सा काम अवश्य देगी। यदि संस्कृत ग्रंथों की जाह्नवी-जल-धारा में प्रवेश करने से पूर्व विद्यार्थी जन इस नल के जल से हस्तपादप्रक्षालन कर लें तो और भी अच्छा होगा। यदि इस पुस्तक को पढ़कर हिंदी भाषा-भाषियों की अभिरुचि भारतीय न्याय ग्रंथों की ओर बढ़ी तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

छत्रपुर (बुंदेलखंड)
विजया दशमी।
१९८४.

—गुलाबराय।

विषय-सूची

चैाथा अध्याय

तर्कशास्त्र

तीसरा भाग

पहला अध्याय

प्रमा और अप्रमा

तर्कशास्त्र को प्रमाण शास्त्र भी कहा है। प्रमाण की इस प्रकार आवश्यकता बतलाई गई है—"प्रमाणमंतरेण नार्थप्रतिपत्तिः, नार्थप्रतिपत्तिमंतरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम्" (वात्सायन भाष्य)। प्रमाण के विना अर्थ अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और बिना ज्ञान के प्रवृत्ति नहीं हो सकती। किसी वस्तु के छोड़ने या ग्रहण करने की इच्छा को प्रवृत्ति कहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारे जीवन में, जो कि प्रवृत्तिमय है, प्रमाण के विना काम नहीं चल सकता। प्रमाण का ज्ञान केवल बुद्धि-विलास ही नहीं है, वरन् व्यवहार में भी उसकी आवश्यकता है। ज्ञान और प्रमाण दोनों ही प्रयोजनवाले हैं। बेचारे हिंदुओं को लोग अक्रियाशील कहते हैं; किंतु

प्रमाण

उन्होंने तो ज्ञान को अंतिम प्रयोजन न मानकर प्रवृत्ति का साधक ही माना है।

अस्तु; अब यह विचारना चाहिए कि प्रमाण क्या है? प्रमायाः करणं (व्यापारवदसाधारणं, कारणं करणं) प्रमाणम्।

प्रमा वा यथार्थ ज्ञान

इस परिभाषा में दो शब्द व्याख्या के योग्य हैं—'करण' और 'प्रमा'। करण की व्याख्या हो चुकी। व्यापारवाले असाधारण कारण को करण कहते हैं; जैसे वृक्ष काटने मे कुल्हाड़ी करण है। अब प्रमा की व्याख्या करना बाकी है।

"तद्वद्विशेष्यकं तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा।"

(न्या० सि० मु०)

'अयं घटः' इस ज्ञान मे घट विशेष्य है और घटत्व प्रकारक विशेषण है। यदि घटत्ववत् विशेष्य में घटत्व विशेषण वा प्रकार हो तो यह ज्ञान प्रमा होगा। इसी बात को तर्कसंग्रह में इस प्रकार से कहा है—

"तद्वति तत्प्रकारको अनुभवो यथार्थः, स एव प्रमेत्युच्यते"। अर्थात् उस धर्मवाले में उसी प्रकार रूप धर्म का अनुभव यथार्थानुभव है, इसी को प्रमा कहते हैं।

घटत्व धर्मवाले विशेष्य मे घटत्व धर्म को जानना यथार्थानुभव है। युरोपीय तर्क शास्त्र में तादात्म्य का जो नियम (Law of Identity) है, वह एक प्रकार से इसका पर्याय है।

ऊपर की परिभाषा मे के अनुभव शब्द की व्याख्या कर देना आवश्यक है।

"स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभवः"। स्मृति (संस्कारजन्य ज्ञान) से जो भिन्न है, वह ज्ञान अनुभव है। तर्क शास्त्र का वास्तव में अनुभव से ही विशेष संबंध है। स्मृति भी यथार्था और अयथार्था भेद से दो प्रकार की है। "स्मृतिरपि द्विधा–यथार्था, अयथार्था च। प्रमा-जन्या यथार्था; अप्रमाजन्याऽयथार्था"। प्रमा के विपरीत ज्ञान अप्रमा ज्ञान है। इसकी इस प्रकार परिभाषा दी गई है—"तद्-भाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः"। उस धर्म के अभाववाले विशेष्य में उस धर्म रूप विशेषण को जानना अयथार्थ ज्ञान है। घटत्व के अभाववाले विशेष्य में घटत्व का जानना अथवा सर्पत्व के अभाववाले विशेष्य रज्जु में सर्पत्व रूप प्रकार का जानना अयथार्थ ज्ञान है। अयथार्थानुभव के संशय और विपर्यय ये दो भेद बतलाए गए हैं—

अप्रमा वा अयथार्थ ज्ञान

"तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता।
तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोपि प्रकीर्तितः"॥

—भाषापरिच्छेदम्।

अर्थात् रजतत्व धर्मशून्य शुक्ति में रजतत्व धर्म की मति होना अप्रमा है। उसके संशय और विपर्यय रूप से दो प्रपंच अर्थात् विस्तार हैं। विपर्यय उलटे ज्ञान को कहते हैं। यह अप्रमा है;

किंतु इसमें एक प्रकार का उलटा निश्चय होता है। इसी को भ्रम भी कहते हैं। देह को आत्मा समझना वा शंख को पीला मानना भ्रम का उदाहरण है। इसमें एक ही निश्चय बुद्धि रहती है, किंतु वह अप्रमा रूप होती है। इसकी विशेष व्याख्या आगे की जायगी।

संशय की इस प्रकार परिभाषा की गई है—"एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मविशिष्टज्ञानं संशयः"। अर्थात् एक धर्मी में अनेक विरुद्ध धर्मोंवाला ज्ञान संशय कहलाता है। एक लंबे खड़े हुए पदार्थ में स्थाणुत्व और पुरुषत्व दोनों विरोधी धर्मों को विषय करनेवाले ज्ञान लगाना संशय है। न्यायसार में संशय को अनवधारण या अनिश्चित ज्ञान कहा है। न्याय सूत्र में संशय की परिभाषा देते हुए, पाँच प्रकार के संशय के कारण होने से, संशय भी पाँच प्रकार का बतलाया है। सूत्र इस प्रकार है—'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यानुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः'। संशय किसी वस्तु के विषय मे विरोधी धर्म को विषय करनेवाले ज्ञान को कहते हैं। यह पाँच प्रकार से होता है।

संशय

(१) समानधर्मोपपत्तेः—एक से धर्मों के जानने से; जैसे, संध्या काल में किसी ऊँचे पदार्थ को देखकर यह विरोधी ज्ञान होना कि यह स्थाणु है या पुरुष। इसमे स्थाणु और पुरुष दोनों मे लंबाई रूप धर्म समान है।

(२) अनेकधर्मोपपत्तेः—अनेक धर्मों अर्थात् असमान धर्मों के देखे जाने से; जैसे मन में क्रिया और ज्ञान दोनों पाए जाते हैं (क्रिया प्राकृतिक पदार्थों मे पाई जाती है और ज्ञान अप्राकृतिक पदार्थों मे), इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मन प्राकृतिक है या अप्राकृतिक। अनेक धर्म का अर्थ असाधारण धर्म भी लगाया गया है। इसके अनुकूल यह उदाहरण होगा कि पृथ्वी मे जो गंध गुण है, वह और कहीं नहीं पाया जाता। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि पृथ्वी अनादि है अथवा सादि; क्योंकि गंध गुण न अनादि पदार्थों मे पाया जाता है न सादि पदार्थों में।

(३) विप्रतिपत्तेः—मत-विरोध होने से; जैसे मीमांसक लोग शब्द को अनादि मानते हैं और न्यायवाले सादि मानते हैं। ऐसी अवस्था मे शब्द के अनादित्व मे संदेह होने लगता है।

(४) उपलब्ध्यव्यवस्थातः—उपलब्धि की अव्यवस्था से; जैसे मृगतृष्णा मे जल की उपलब्धि तो होती है, किंतु वह उपलब्धि ठीक नहीं होती। कहने का मतलब यह है कि उपलब्धि या प्रत्यक्ष मात्र तब तक निश्चय का साधक नहीं होता, जब तक सफल प्रवृत्ति न हो।

(५) अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः—अनुपलब्धि की अव्यवस्था से, जैसे तिल मे तेल नहीं दिखाई पडता; किन्तु अनुपलब्धि मात्र उसके अभाव का निश्चय नहीं दिलाती। इसी

प्रकार ईश्वर का अप्रत्यक्ष होना ईश्वर का अभाव सिद्ध नहीं करता।

न्यायदर्शन २ प्र० १ अ० सूत्र १–६ तक में संशय की असंभवता पर पूर्वपक्ष रूप से शंका उठाई गई है। संशय के जो पाँच कारण बतलाए गए हैं, उनका निषेध करके संशय के न होने का एक छठा और कारण बतलाया गया है।

संशय के संबध में शंका

वादी का कहना है कि संशय समान और अनेक धर्मों के देखे जाने से नहीं हो सकता। यदि समान और अनेक धर्म एक साथ देखे जायँ तो संशय के लिये स्थान नहीं रहता; क्योंकि यदि स्थाणु और पुरुष की ऊँचाई के साथ पुरुप का चलना भी देखा जाय तो संदेह न रहेगा कि यह पुरुष है या स्थाणु। इसी प्रकार यदि समान और अनेक धर्म अलग अलग भी देखे जायँ तो भी संशय के लिये स्थान नहीं रहता। यदि हम दूर से स्थाणु और पुरुष को देखें तो लम्बाई अवश्य दोनों में समान है, किन्तु स्थाणु की लंबाई पुरुष की लंबाई से भिन्न है। और जो भेद को जानता है, उसके लिये सशय हो ही नहीं सकता। और यदि अनेक धर्म अर्थात् स्थाणु और पुरुष के विशेष धर्म अलग अलग दिखाई पड़े तो संशय होगा ही क्यों? यह शका निर्मूल है। यह तो माना कि यदि समान और विशेष धर्म एक साथ देखे जायँ तो संशय न हो; और यदि विशेष धर्म भी अलग देखे जायँ तो भी संशय न हो। किंतु

हमारा ऐसा कहना नहीं है। हमारा अभिप्राय यह है कि जब समान धर्म ही दिखलाई पड़ें और विशेप धर्म अँधेरे या दूरी के कारण न दिखलाई पड़ें तब संशय होता है। वैशेषिक दर्शन मे जो परिभाषा दी गई है (वह आगे बतलाई जायगी,) उसमे यह बात स्पष्ट कर दी गई है; और उसके विषय में यह शंका नाम को भी नहीं उठाई जा सकती। रहा लंबाई की भिन्नता का प्रश्न; वह भिन्नता और विशेषता दूर से नहीं दिखाई पड़ती। इस समानता मे अनिश्चयता लगी हुई है।

वादी का कहना है कि संशय मत-भेद (विप्रतिपत्तिः) के कारण भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक पक्षवाले अपने अपने मत मे दृढ़ विश्वास रखते हैं। यह ठीक है; किंतु ऐसे भी लोग होते हैं जिन्होने स्वयं अपना निश्चय नहीं किया है। वे जब दो पंडितों को मत-भेद प्रकट करते देखते हैं, तब संशय मे पड़ जाते हैं। अव्यवस्था से भी संशय नहीं हो सकता; क्योंकि अव्यवस्था आत्मा मे व्यवस्थित है या नहीं? यदि व्यवस्थित है अर्थात् निश्चय रूप से है तो निश्चय से अनिश्चय नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि जब यह निश्चय रूप से जानते ही हो कि अव्यवस्था है तो वह अव्यवस्था न रही, एक प्रकार का निश्चय ही हो गया। यदि अव्यवस्था को निश्चित न मानो तो भी अव्यवस्था न रही। इस युक्ति मे शब्दों के हेर फेर से लाभ उठाया गया है। यदि अव्यवस्था निश्चित है तो वह अव्यवस्था नहीं है; और यदि अव्यवस्था

निश्चित नहीं है तो वह द्विगुणित अव्यवस्था है। जब तक पूरा निश्चय न हो जाय, तब तक अव्यवस्था रहती है। संशय के विषय मे अंतिम शंका यह उठाई गई है कि यदि संशय के कारण समान धर्म हमेशा बने रहते हैं तो संशय का कभी अंत ही न होगा। यह शंका भी और शंकाओं की भाँति निर्मूल है, क्योंकि संशय समान धर्मों की उपस्थिति मात्र से नहीं होता, वरन् उसके साथ विशेप धर्मों की अनुपस्थिति भी आवश्यक है। विशेष धर्मों के प्रकट होते ही संशय नहीं रहता।

वैशेषिक मत मे संशय की व्याख्या

वैशेषिक दर्शन में जो संशय की व्याख्या है, उसमें ऐसी बहुत सी शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं। वैशेषिक दर्शन में संशय के नीचे लिखे हुए कारण बतलाए गए हैं—

"सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः"। अर्थात् जो सामान्य गुण दो या अधिक पदार्थों में एक से हों, उनके दिखलाई देने से (स्थाणु और पुरुष दोनो में लंबाई समान धर्म है, उसके प्रत्यक्ष होने से), विशेष के प्रत्यक्ष न होने से (स्थाणु या पुरुष के विशिष्ट गुणो के प्रत्यक्ष न होने से जिससे निश्चय हो जाय कि स्थाणु ही है या पुरुष) और विशेषों के स्मरण से (स्थाणु वा पुरुष दोनों के स्मरण से, क्योंकि यदि पुरुष का स्मरण न हो तो संशय इतनी जल्दी न हो। वास्तव में स्थाणु और पुरुष के संबंध मे संशय तभी होता है जब कि किसी पुरुष की प्रतीक्षा होती है)। इस परिभाषा का मनो-

विज्ञान और तर्क दोनों से ही संबंध है। यह परिभाषा जननात्मक (Genetic) है। यह यह नहीं बतलाती कि संशय क्या है, वरन् यह कि वह कैसे उत्पन्न होता है। वैशेषिक दर्शन मे संशय की उत्पत्ति के तीन और प्रकार दिए गए हैं—

(१) 'दृष्टं च दृष्टवत्' जैसा पहले देखा हो, वैसा ही देखने से; जैसे किसी देखे हुए पुरुष के समान दूसरे पुरुष को देखने से संशय होने लगता है कि यह वही है या और कोई।

(२) 'यथा दृष्टमयथाऽदृष्टत्वाच्च' जैसा देखा हो, वैसा न देखने से; जैसे किसी मनुष्य को पहले मोटा ताजा देखा हो, फिर उसको दुबला पतला देखने से संशय होता है कि यह वही है या नहीं।

(३) 'विद्याऽविद्यातश्च संशयः' विद्या और अविद्या से, अर्थात् थोड़े ज्ञान से, जहाँ पूरा ज्ञान नहीं होता, संशय होता है। कहा भी है—नीम हकीम खतरए जान और नीम मुल्ला खतरए ईमान। ऊहा और अनध्यवसाय को भी संशय के अंतर्गत रखा है। ऊहा अटकल को कहते हैं और अनध्यवसाय ज्ञान के न होने को कहते हैं।

"मिथ्याज्ञानं विपर्य्ययः" संशय और विपर्यय में यही भेद है कि संशय में विकल्प रहता है—'यह हो या न हो' पर

विपर्य्यय

विपर्यय मे विपरीतता का निश्चय रहता है। सप्तपदार्थी में संशय और विपर्य्यय की जो परिभाषा दी गई है, उसमे यह बात स्पष्ट कर दी गई है।

संशय की इस प्रकार व्याख्या की गई है—'अनवधारणं ज्ञानं संशयः' अर्थात् निश्चय-रहित ज्ञान संशय है। 'अवधारण-रूपातत्वज्ञानं विपर्य्यय:'। अवधारण अर्थात् निश्चय रूप अतत्व ज्ञान को विपर्य्यय कहते हैं। विपर्यय में निश्चय रहता है। विपर्य्यय के इस प्रकार उदाहरण दिए गए हैं—आद्यो (विपर्ययः) देहेष्वात्मबुद्धिः शंखादौ पीतता मतिः भवेन्निश्चयरूपा या'।

यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं और अयथार्थ को अप्रमा कहते हैं। अप्रमा के प्रकार बतला दिए गए हैं। अब इसकी व्याख्या करना आवश्यक है। अप्रमा को ही भूल कहते हैं। भूल क्या है, उसकी उत्पत्ति मे हमारी क्या मानसिक स्थिति होती है, इन बातो का उत्तर देना भूल की व्याख्या करना है। अप्रमा भी एक प्रकार का ज्ञान है। ज्ञान मे अज्ञान किस प्रकार आ जाता है?

ख्यातिया अर्थात् अप्रमा की व्याख्या

अप्रमा के विषय में पॉच मत वर्तमान हैं। यह मत (ख्यातियॉ) वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका मे इस प्रकार दिए गए हैं—

(१) आत्मख्याति—इसका संबंध योगाचार बौद्धों से है। ये लोग विज्ञानवादी हैं। इनका कहना है कि हमारा विज्ञान अर्थात् प्रत्यय ही वास्तविक सत्ता रखता है। ये लोग बाह्य पदार्थ को नहीं मानते। जब सारा संसार विज्ञान-धारा ही है तो कभी हमको शुक्ति का ज्ञान हो गया और कभी

रजत का। इनके मत से 'इदं रजतं' मे इदं कोई पदार्थ नहीं, रजतं ही रजतं है। भीतरी विज्ञान को बाहरी इदं कहना बड़ी भूल है। जब शुक्ति का विज्ञान आ गया, तब रजत का निःशेष हो गया। इस मत में सच झूठ की कोई कसौटी नहीं रहती, और इसका भी कोई उत्तर नहीं कि शुक्ति मे रजत ही क्यों है, सर्प क्यों नहीं दिखाई पड़ता ? उनके मत से किसी विज्ञान का निषेध हो जाना ही उसकी असत्यता है।

(२) असत्ख्याति—इसका संबंध माध्यमिक बौद्धों से है। यह सर्व-शून्यवादी हैं। इनके लिये सब सत्तात्मक ज्ञान, चाहे वह बाहरी सत्ता का हो चाहे भीतरी सत्ता का, असत् ज्ञान है। यह मत एक प्रकार से आत्मख्याति का ही रूपांतर है। भेद इतना ही है कि आत्मख्याति में सब पदार्थ आत्मा के विज्ञान रूप बतलाए जाते हैं; पर इसमें वह असत् कहे जाते हैं। जब सभी असत् है तो जैसी शुक्ति और वैसा रजत; दोनों की ही उत्पत्ति अविद्या में है। वैसे तो शुक्ति को शुक्ति कहना भी भूल है। रजत को शुक्ति कहना भी ऐसी ही भूल है। जो बात आत्मख्याति के विरोध मे कही गई है, वही इसके विरोध मे भी कही जाती है।

(३) अनिर्वचनीयख्याति—इसका संबंध अद्वैतवादियों से है। अद्वैतवादियों का कहना है कि रज्जु मे जो सर्प दिखाई पड़ता है, वह न तो सत् ही है और न असत्। यदि सत् कहें तो भ्रम नाश होने पर उसका अभाव न होना चाहिए; और

यदि असत् कहते हैं तो वह दिखाई कैसे पड़ता है और उसको उठाने के लिये क्यों प्रवृत्ति होती है? और यदि सत् और असत् दोनों कहे तो भी नहीं बनता। इसलिये वह अनिर्वचनीय है। उस अनिर्वचनीय को यदि कोई सत् कहे तो मिथ्या ज्ञान है। ऐसे मिथ्या ज्ञान को अनिर्वचनीय ख्याति कहते हैं। अद्वैतवादियों के मत से रज्जु का जो सर्प दिखाई पड़ता है, वह जब तक भ्रम रहता है, तब तक सत् है। उसकी उत्पत्ति अविद्या और सर्प के स्मरणजन्य संस्कार से होती है। जो भ्रम का सर्प दिखाई पड़ता है, वह वास्तव मे वैसा ही बाह्य और सत् (उसी समय के लिये) है जैसा कि घट या पट। वहाँ एक प्रकार से नई ही चीज उत्पन्न हो जाती है।

(४) अख्याति—इसका प्रभाकर मत के मीमांसकों से संबंध है। उनका कहना यह है कि जब रज्जु में सर्प दिखाई पड़ता है, तब हम पर रज्जु और सर्प का भेद नहीं प्रकट होता; और इस भेद के प्रकट न होने के कारण हम रज्जु और सर्प का तादात्म्य कर देते हैं। हमको दिखाई तो रज्जु पडती है; उसी के साथ हमको सर्प का स्मरण होता है; और भेद दिखाई नहीं पड़ता, इसी से रज्जु को सर्प मान लिया जाता है। भेद के न दिखाई पड़ने को ही लोग रज्जु मे सर्प के देखे जाने का कारण मानते हैं।

(५) अन्यथा-ख्याति—इसका संबंध नैयायिकों से है। न्याय का मत है कि हमारा भ्रम निर्मूल नहीं होता। कुछ

बात की समानता देखकर और कोई वस्तु, जिसमे समान गुण पाया जाता है, स्मरण आने पर एक ही गुण की समानता के आधार पर पहली वस्तु के स्थान में दूसरी दिखाई पड़ने लगती है। इसी से इसको अन्यथा ख्याति कहते हैं। इस दूसरी वस्तु के प्रत्यक्ष होने मे ज्ञान लक्षण सहायक होता है। ज्ञान लक्षण एक प्रकार का अलौकिक प्रत्यक्ष है। जैसे चंदन को देखकर कहा कि 'चदनं सुरभि।' देखने से उसका आकार मालुम हो सकता है; किंतु घ्राणेंद्रिय संबंधी सौरभ का गुण नहीं मालूम हो सकता। यहाँ पर पूर्वानुभव के कारण विना सूँघे ही देखने पर उसके सौरभ का प्रत्यक्ष होने लगता है। इसी प्रकार रज्जु में लंबापन और रंग (राँगे) मे सफेदी देखने से लंबे सर्प और सफेद चाँदी का प्रत्यक्ष होने लगता है, और उसी प्रत्यक्ष के कारण हमारी भागने या चाँदी को उठाने की प्रवृत्ति होने लगती है। अख्याति और अन्यथा-ख्याति मे यह भेद है कि अख्याति-वादवाले भेद के अभाव को भ्रम का कारण मानते हैं, और अन्यथा ख्यातिवाले ज्ञान लक्षण द्वारा प्राप्त पदार्थ के विशेष गुणों के उपस्थित हो जाने को। वास्तव मे इन सब ख्यातियों ने भूल की यथार्थ व्याख्या में योग दिया है। आत्म-ख्याति मे सत्य का इतना अंश अवश्य है कि इस भूल अर्थात् रज्जु मे दिखाई देनेवाले सर्प का आधार मानसिक क्रिया मे है। असत्ख्याति भ्रम की असत्यता पर जोर देती है। अनिर्वचनीय ख्याति भ्रम की अनिर्वचनीयता बतलाती

है। उसमें माध्यमिकों की तरह भ्रम को बिलकुल आधार-शून्य नहीं मानते और योगाचार के मतानुसार इसको अविद्या का कार्य्य मानते हैं। प्रभाकर मत के मीमांसक अख्यातिवाद द्वारा भूल कर मनोविज्ञान पर झलक डालते हैं। उनका कहना है कि जब हमको वास्तविक और आरोपित वस्तु मे भेद नहीं दिखाई पड़ता, तभी भ्रम होता है। इसमे इतना सत्य अवश्य है कि यदि भेद दिखाई देता तो दोनों वस्तुएँ अलग रहतीं। भ्रम मे इस अभाव के अतिरिक्त थोड़ा भाव भी रहता है। उस भाव के अंश के संबंध में न्याय बतलाता है कि एक वस्तु मे दूसरी वस्तु तभी दिखाई पड़ती है जब उन दोनों में कुछ समानता होती है। सीप मे ही चाँदी दिखाई पड़ती है, क्योंकि दोनों में एक सी चमक और सफेदी है।

प्रमा के संबंध में यह प्रश्न और रह गया कि प्रमा का प्रामाण्य स्वतः ग्राह्य है या परतो-ग्राह्य है; अर्थात् कोई ज्ञान प्रमा है, इसके निश्चित करने मे ज्ञान मे बाहर कोई साधन है अथवा स्वयं ज्ञान ही द्वारा इस बात का निश्चय होता है?

प्रामाण्यवाद

इस संबंध मे दो प्रश्न उठाए जाते हैं—(१) ज्ञान का प्रामाण्य कहाँ से प्राप्त होता है? और (२) हमको उसका किस प्रकार से ज्ञान होता है? प्रभाकर मत के मीमांसकों का कथन है कि ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञान के साधारण कारणों (मन और इंद्रिय का संयोग तथा मन और आत्मा का संयोग) से है।

दूसरे प्रश्न के विषय में उनका कहना है कि ज्ञान स्वतः-प्रमाण है। जिन कारणों द्वारा ज्ञान होता है, उन्हीं के द्वारा ज्ञान के प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है। नैयायिक लोग इस मत के विरोधी हैं। उनका कहना है कि ज्ञान का प्रामाण्य यदि ज्ञान के साधारण कारण द्वारा ही होता तो संशय कभी न होता; क्योंकि यदि हमको ज्ञान के ही साथ उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान होता तो उसमें 'वा न वा' के लिये कोई स्थान न रहता। हम को संशय होता है, इसलिये प्रमा का स्वतो-ग्राह्यत्व नहीं है। "प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः"। ज्ञान का प्रमाण ज्ञान के साधारण कारणों से नहीं होता, वरन् उसके असाधारण कारण (करण) से। 'प्रत्यक्ष का करण प्रतिबंध-रहित इंद्रियार्थ सन्निकर्ष है, अनुमान का करण परामर्श है। उपमान का करण समानता का ज्ञान है, शब्द का करण आन्तरिक संगति या अविरोध का ज्ञान है। "प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम्। सन्निकर्षो गुणस्तु स्यादथत्वनु-मितौ पुनः॥ पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शो गुणो भवेत्। शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः॥ शाब्दबोधे योग्यतायास्ता-त्पर्यस्याथवा प्रमा, गुणः स्यात्।"

(भाषापरिच्छेद।)

इसके अतिरिक्त ज्ञान से जो प्रवृत्ति होती है, उसकी सफ-लता से ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यदि हमने जल को देखा और उसे स्पर्श करने से उचित प्रकार की शीतलता या

पीने से पिपासा-निवृत्ति हुई तो हमने समझा कि हमारा ज्ञान ठीक है। किन्तु यदि हमको मृगतृष्णा के जल का ज्ञान हुआ तो उससे उत्पन्न हुई प्रवृत्ति का फल जल के स्थान मे निराशा रूप होगा। केवल ज्ञान से ही हमको उसका प्रामाण्य नहीं मिलता। उससे उत्पन्न हुई प्रवृत्ति की सफलता के आधार पर अनुमान करना पड़ता है। वह अनुमान इस प्रकार का होता है—"इदं ज्ञानं प्रमा संवादि प्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा"। अर्थात् सफल प्रवृत्ति उत्पन्न करने के कारण यह ज्ञान प्रमा रूप है। जिसमे सफल प्रवृत्तिजनकत्व नही है, वह प्रमा भी नहीं; जैसे अप्रमा रूप ज्ञान (इसके स्थान में मृगतृष्णा का जल कहा जाता तो अच्छा होता)। यह ज्ञान सफल प्रवृत्ति-वाला है, अतः यह प्रमा रूप है। हमारे यहाँ के नैयायिक सफल प्रवृत्ति के विषय में युरोपीय तार्किकों से पीछे नहीं हैं। वे लोग केवल अविरोधात्मक ज्ञान से ही संतुष्ट नहीं हो जाते। जिस बात पर बेकन (Bacon) आदि ने बहुत जोर दिया था, उस बात की भारतीय तर्क में कमी न थी। इस प्रवृत्ति के विषय मे मीमांसकों का कहना है कि ज्ञान के साथ ही उसका प्रामाण्य लगा हुआ है। प्रवृत्ति कभी ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पादक नहीं है, वरन् उसका फल है। इनका मत अँगरेजी दार्शनिक डेकार्ट के मत से कुछ मिलता जुलता है। उसने प्रत्ययों की स्पष्टता (Clear and distinct ideas) को ही सत्य का निर्णायक माना है।

ज्ञान के प्रामाण्य या अप्रामाण्य के विषय में भिन्न भिन्न दर्शनों के मत

सर्वदर्शनसंग्रह-कार ने इन मतों को इस प्रकार बतलाया है—

"प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः ।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः ॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः ।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणतामिति ॥

दर्शन	प्रामाण्य	अप्रामाण्य
सांख्य	स्वतः	स्वतः
न्याय	परतः	परतः

दर्शन	प्रामाण्य	अप्रामाण्य
मीमांसा, वेदान्त और बौद्ध	परतः	स्वतः

साख्य के मत से ज्ञान का प्रामाण्य या अप्रामाण्य दोनों स्वतोग्राह्य हैं, अर्थात् उनके ग्रहण करने मे किसी बाहरी युक्ति या प्रमाण की आवश्यकता नहीं किन्तु ज्ञान की ग्राहक-सामग्री द्वारा ही ज्ञाननिष्ठ प्रामाण्य भी गृहीत हो जाता है। नैयायिकों के मत से इसके विपरीत ज्ञान का प्रामाण्य या अप्रामाण्य ग्रहण करने के लिये साधनो की आवश्यकता है, जो कि पारिभाषिक गुण और अननुगत दोषों से ज्ञात होता है, किंतु स्वतः नहीं। मीमांसा और वेदांत के मत से ज्ञान का प्रामाण्य स्वतःग्राह्य है; और अप्रामाण्य ग्राह्य होने में दूसरी सामग्री की अपेक्षा रखता है; क्योंकि इन्होंने ज्ञान को सत्य ही माना

है, यदि कोई झूठा बतलावे तो वह बिना साधक के झूठा नहीं माना जा सकता। बौद्धों ने ज्ञान को स्वभाव से मिथ्या माना है; और यदि उसे कोई सत्य कहे तो बिना साधक के उसकी सत्यता में विश्वास नहीं किया जा सकता। ज्ञान को स्वतः प्रामाण्य माननेवाले भिन्न भिन्न मीमांसकों और संप्रदायों में अवांतर भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—

प्रभाकर मत से ज्ञान स्वप्रकाश्यरूप है और उस ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञान ही के साथ गृहीत होता है; क्योंकि उनके मत से प्रत्येक ज्ञान प्रमाता प्रमेय और स्वयं अपने को विषय करता है।

वे पहली बार ही 'घटत्वेन घटमहं जानामि' इत्याकारक ज्ञान का उत्पन्न होना मानते हैं। इनके मत से अनु-व्यवसाय ज्ञान की आवश्यकता नहीं। 'अयं घटः' यह व्यव-साय ज्ञान है। इसके पश्चात् ऐसा ज्ञान होता है कि 'घट-त्वेन घटमहं जानामि।" यह अनुव्यवसाय ज्ञान है। प्रभाकर मतवाले पहले ही ज्ञान मे द्वितीय ज्ञान लगा हुआ मानते हैं और उसी से ज्ञान का स्वतः-प्रामाण्य मानते हैं।

मुरारि मिश्र का कहना है कि द्वितीय ज्ञान अनुव्यवसाय रूपी ज्ञान द्वारा प्रमाण्य होता है।

भट्ट मतवाले ज्ञान को अतींद्रिय मानते हैं। उनके मत से पहले 'अयं घटः' ऐसा ज्ञान होता है; और उस ज्ञान का फल ज्ञातता होता है। वह अतींद्रिय रहता है और उस ज्ञातता

का ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से होता है। उस ज्ञातता से ज्ञान का अनुमान होता है। ज्ञातता के साथ उसके प्रामाण्य का इस प्रकार अनुमान होता है—

इयं घटनिष्ठा ज्ञातता घटत्ववद्विशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञान-जन्या घटवृत्तिघटत्वप्रकारकज्ञातत्त्वात्। या यद्वृत्तिर्यत्प्रका-रिका ज्ञातता सा तद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानसाध्या यथा पटे पटत्वप्रकारिका ज्ञातता इति। अर्थात् यह घटनिष्ठ ज्ञातता, जिसका विशेष्य घट है और जिसका प्रकार घटत्व है, ऐसे ज्ञान से उत्पन्न हुई है, घटवृत्ति (अर्थात् घट मे रहनेवाली) घटत्व प्रकारिका ज्ञातता होने से। जो ज्ञातता जिस वृत्ति और जिस प्रकारवाली होती है, वह उसी विशेष्यक और उसी प्रकारवाले ज्ञान की उत्पत्ति करनेवाली होती है; जैसे पट में पटत्व प्रकारिका ज्ञातता। संक्षेप से भेद यह है कि प्रभाकर मत से 'अयं घटः' इस ज्ञान में ही उसका प्रामाण्य सम्मिलित है। ज्ञान ही स्वयं अपने को एवं अपने प्रामाण्य को, स्वप्रकाश होने के कारण, ग्रहण करता है। मुरारि मिश्र के मतानुसार 'प्रामाण्य' घटोऽयं इत्यहं जानामि' अर्थात् यह घट है, ऐसा मैं जानता हूँ, इत्याकारक ज्ञान द्वारा प्रामाण्य होता है अर्थात् अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में ही स्वप्रकाशता है।

कुमारिल भट्ट के मत से ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता। हमको ज्ञातता अर्थात् जाना हुआ होने की प्रतीति होती

है और उसी के द्वारा ज्ञान और उसके प्रमात्व का ज्ञान होता है। तीनो ही के मत से ज्ञान के अतिरिक्त प्रामाण्य के लिये और किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। वह या तो स्वयं ज्ञान से (प्रभाकर मत) अथवा जिन कारणों से ज्ञान उत्पन्न होता है (दूसरे शब्दों मे ज्ञान और उसका प्रामाण्य एक साथ उत्पन्न होते हैं) अथवा ज्ञान के पीछे होनेवाले अनुव्यवसाय ज्ञान से (मुरारि मिश्र) या ज्ञान का अनुमान करानेवाली ज्ञातता से उत्पन्न होता है। न्याय मत ज्ञान के स्वतः-प्रामाण्य का खंडन करता है—"प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः।" अर्थात् ज्ञान का स्वतः-प्रामाण्य नही है; क्योकि अगर ऐसा हो तो कभी संशय नहीं हो सकता। मीमांसकों का कहना है कि संशय ज्ञान ही नहीं अयथार्थ ज्ञान होता है, किन्तु जब तक ज्ञान की अयथार्थता सिद्ध न हो जाय, तब तक वह यथार्थ ही है। पहले ज्ञान की शुद्धि दूसरे ज्ञान से ही होती है। न्याय ने सफल प्रवृत्ति को यथार्थता की कसौटी माना है। मीमांसक लोग इसको भी एक प्रकार का ज्ञान ही कहते हैं।

दूसरा अध्याय

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ।

न्या० सू० १–१–३ ।

प्रमाणों की गणना

प्रत्येक शास्त्र ने अपने अलग अलग प्रमाण माने हैं। चार्वाकों ने केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना है। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। वैशेषिक दर्शन में भी प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण माने हैं। सांख्य मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द वा आगम तीन प्रमाण माने हैं। नैयायिक लोग चार प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। प्रभाकर मत के मीमांसकों ने इनके अतिरिक्त अर्थापत्ति नाम का एक और प्रमाण माना है। भट्ट मत के मीमांसक और शांकर वेदांती लोग अभाव को भी प्रमाण मानते हैं। पौराणिकों ने इन छः के अतिरिक्त ऐतिह्य को और ज्योतिषियों ने संभव को भी प्रमाण माना है; और तान्त्रिकों ने चेष्टा को भी प्रमाण माना है। जैन लोगों ने परोक्ष और अपरोक्ष ये प्रमाण के दो भेद माने हैं। अपरोक्ष में प्रत्यक्ष है और परोक्ष में अनुमान तथा शब्द।

जैनो के कुछ आचार्यों ने परोक्ष में स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क तीन और प्रमाण माने हैं। प्रमाणों की गणना के संबंध मे नीचे के श्लोक प्रचलित हैं।

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानं च तच्चाथ सांख्याः शब्दं च ते अपि॥
न्यायैकदेशिनोप्येवमुपमानञ्च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः॥
अभावषष्ठान्येतानि भट्टा वेदान्तिनस्तथा।
सम्भवैतिह्य प्रकृतानि तानि पौराणिका जगुः॥

इस ग्रन्थ में न्यायशास्त्र के माने हुए प्रमाणों की व्याख्या की जायगी।

प्रत्यक्ष को सब प्रमाणो के आदि मे रखकर उसे सबमे श्रेष्ठता दी गई है, क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्षमूलक है।

प्रत्यक्ष का महत्त्व

यद्यपि प्रत्यक्ष में भी अनुमान का काम पड़ता है, तथापि सब बातो को निश्चय करने के लिये प्रत्यक्ष को ही अन्तिम निर्णायक माना है। सफल प्रवृत्ति का भी ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है। यद्यपि इस प्रधानता मे मतभेद की गुंजाइश है, तथापि वर्तमान ग्रंथकार की दृष्टि से प्रत्यक्ष की ही प्रधानता है। इसका यह अर्थ नहीं कि अनुमान और शब्द निरर्थक हैं। दोनों ही प्रत्यक्ष मे सहायक होते हैं; किंतु जितना आदर प्रत्यक्ष का होता है, उतना और किसी का नही। असंभव दोष का तो खयाल

इसमे भी रखना पड़ता है। यद्यपि सब बातों का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, तथापि यदि अनुमान और शब्द की बात प्रत्यक्ष से पुष्ट हो जाय तो फिर संदेह के लिये स्थान नहीं रहता।

न्याय सूत्रों मे प्रत्यक्ष की इस प्रकार से व्याख्या की गई है—

"इंद्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। इस संबंध में अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक शब्दों की व्याख्या कर देना आवश्यक है।

प्रत्यक्ष की व्याख्या

अव्यपदेश्य—जिसका शब्द से अभिलाप न किया जा सके। यह प्रत्यक्ष की पहली अवस्था है। प्रत्यक्ष की इस पहली अवस्था मे वस्तु मात्र का ज्ञान होता है। यह निर्विकल्प प्रत्यक्ष का लक्षण है।

अव्यभिचारी—जो मृगतृष्णा की भाँति धोखा हो।

व्यवसायात्मक—निश्चयात्मक।

इस प्रकार के अर्थ लगाने में दो आपत्तियाँ है। एक तो यह कि अव्यपदेश्य ज्ञान एक ही प्रकार का अर्थात् निर्विकल्प का द्योतक है। परिभाषा मे ऐसा गुण देना जो उसके एक अंग पर ही प्रयुक्त हो, उसे अव्याप्ति दोष से दूषित करना है। दूसरी आपत्ति यह है कि अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक मे थोड़ा ही भेद है और दोनों शब्दों का देना एक प्रकार की

पुनरुक्ति है, इसलिये इस सूत्र की एक दूसरी रीति से व्याख्या की जाती है।

इंद्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला अव्यभिचारी अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। यह अव्यपदेश्य (निर्विकल्पक) और व्यवसायात्मक (सविकल्पक) दो प्रकार का होता है। यद्यपि सूत्र में इंद्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष ही बतलाया गया है, तथापि यह बात माननी पड़ेगी कि प्रत्यक्ष में मन निष्क्रिय नहीं रहता। इस बात को स्वयं सूत्रकार ने भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मा और मन ज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता। सभी ज्ञान में मन और आत्मा का कार्य लगा हुआ है। ज्ञान के इस साधारण कारण को न बतलाकर इंद्रियार्थ-सन्निकर्ष रूपी व्यावर्तक विशेष कारण बतला दिया। मन और आत्मा का कार्य तो सभी ज्ञान में लगा हुआ है। इंद्रियार्थ-सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष की विशेषता है, यह बतला दिया गया है। निम्नोल्लिखित सूत्र भी इसी बात की पुष्टि करते हैं—

प्रत्यक्ष में आत्मा की क्रिया

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः; तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः। प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेंद्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य, स्वशब्देन वचनम् ॥

(न्या० सू० अ० २ आ० १;—सू० २३, २४, २५।)

प्रत्यक्ष की क्रिया इस प्रकार बतलाई जाती है—

'आत्मा मनसा मन इंद्रियेण इंद्रियं चार्थेन संयुज्यते'। आत्मा से मन का संयोग और मन से इंद्रिय का संयोग और इंद्रिय से वस्तु का संयोग होता है। यही ज्ञानप्राप्ति का क्रम है।

इंद्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होते हुए भी यदि मन दूसरी ओर लगा हो तो सम्मुख वस्तु का भी ज्ञान नहीं होता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मन की अनवधानता के कारण वस्तु की अनुपलब्धि होना संभव है, इसलिये प्रत्यक्ष की प्रमाणता निश्चय करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई दोष तो उपस्थित नहो है; अर्थात् इंद्रिय और अर्थ का ठीक सन्निकर्ष है। पदार्थ बहुत दूर या बहुत नजदीक तो नहीं है। कोई बाधक कारण तो नहीं है और मन किसी और ओर तो नहीं लगा हुआ है। 'सांख्यकारिका' मे प्रत्यक्ष के न होने के नीचे लिखे हुए कारण दिए गए हैं— 'अतिदूरात् सामीप्या-दिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥'' अति दूर के कारण (जैसे ग्रहों के भीतर के स्थल), अति नजदीक होने के कारण (अपनी आँख का काजल), इंद्रिय के दोष से, मन की अनवधानता से, अति सूक्ष्म होने से (जैसे जल के कीड़े), बीच में रुकावट आ जाने से और किसी और चीज की प्रधानता से (जैसे सूर्य की प्रधानता से दिन में तारागण) और समान चीज में मिल जाने से (घास से हरे रंग के कीड़े नहीं दिखाई पड़ते) वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। यद्यपि कहा जाता है कि 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणं' तथापि

हमको बड़ी सावधानता की आवश्यकता है, क्योंकि मृगतृष्णा का जल भी तो एक प्रकार का प्रत्यक्ष ही होता है। जहाँ तक हो, प्रत्यक्ष के आधार पर प्रवृत्ति से पूर्व हमको थोड़ी बहुत परीक्षा कर लेना आवश्यक है; और जब तक उसमे सफल प्रवृत्ति न हो, तब तक उस ज्ञान को प्रमात्मक नहीं समझना चाहिए।

गंगेशादि नवीन आचार्यों ने न्याय दर्शन मे दी हुई परिभाषा दूषित बतलाई है। उनका कहना है कि स्मृति के शामिल होने से यह अतिव्याप्ति दोष से दूषित है और ईश्वरीय प्रत्यक्ष को न शामिल करने पर अव्याप्ति दोष से भी युक्त है।

नवीन मत से प्रत्यक्ष की व्याख्या

अनुमानादि ज्ञान का कारण ज्ञान ही होता है, किन्तु प्रत्यक्ष का कारण ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान की पहली सीढ़ी है, इसलिये नवीनों ने प्रत्यक्ष की इस प्रकार परिभाषा दी है— 'ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षं'। जिस ज्ञान का करण ज्ञान न हो, वह प्रत्यक्ष है। (अनुमान और शब्द मे ज्ञान से ज्ञान की उत्पत्ति होती है।) यह प्रभावात्मक परिभाषा है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का माना गया है—एक निर्विकल्पक और दूसरा सविकल्पक। निर्विकल्पक ज्ञान प्रकारता-रहित ज्ञान को कहते हैं। उसमे कोई विशेष्य विशेषण संबंध नहीं मालूम होता। केवल इतना ही मालूम होता है कि कुछ है (निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकं)। प्रकार सहित ज्ञान को सविकल्पक ज्ञान कहते हैं।

प्रत्यक्ष के प्रकार

"सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्। यथादित्योऽयम्, ब्राह्मणोऽयम्, श्यामोऽयम् इति"। निर्विकल्पक और सविकल्पक का भेद हमको अँगरेजी मनोविज्ञान संबंधी संवेदन (Sensation) और प्रत्यक्ष (Perception) का स्मरण दिलाता है। यूरोप के मनोविज्ञान शास्त्री प्रत्यक्ष मे दो श्रेणियाँ मानते हैं। पहली श्रेणी मे तो वस्तु का भान मात्र होता है कि कुछ है। फिर इस इंद्रियार्थ-संन्निकर्ष-जन्य ज्ञान का हमारे संस्कारो से योग होकर हमको फिर विशिष्ट रूप से वस्तु का ज्ञान होता है कि यह पुस्तक है अथवा कलम। हमारे मन के संस्कार इंद्रिय-जन्य ज्ञान मे मिलकर उसको निश्चित रूप और आकार दे देते हैं। जब मानसिक संस्कार प्रबल होते हैं, तभी भ्रम हो जाता है। हमारा प्रत्यक्ष संस्कारों के अनुकूल हो जाता है। जैसे यदि किसी वस्तु की प्रबल आकांक्षा हो तो थोड़ी ही सी समानता के आधार पर हम उस वस्तु को देखने लग जाते हैं।

निर्विकल्पक ज्ञान के विषय मे यह एक समस्या है कि वह वास्तविक प्रत्यक्ष से जाना जाता है अथवा अनुमान से। कुछ आचार्यों का कहना है कि यद्यपि साधारणतया इसका प्रत्यक्ष नहीं होता, किंतु असंभव नहीं। योगियों को निर्विकल्प ज्ञान होता है। नवीन आचार्यों का कहना है कि यद्यपि ज्ञानप्राप्ति के क्रम मे यह आवश्यक है, तथापि इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। "वैशिष्ट्यानवगाहिज्ञानस्य प्रत्यक्षं न भवति।" प्रत्यक्ष की इस प्रकार श्रेणी मानी गई है—निर्विकल्प ज्ञान मे वस्तु मात्र

का ज्ञान होता है. सविकल्पक ज्ञान मे उसके आकार, प्रकार और विशेषणादि का ज्ञान होता है। सविकल्प और निर्विकल्प दोनों ही प्रकार के प्रत्यक्षों को प्राय: सब लोग मानते हैं। निर्विकल्प ज्ञान पहले होता है। निर्विकल्प ज्ञान मे वस्तु मात्र का ज्ञान होता है। उसमे जाति और विशेष होते हैं, किन्तु नाम निर्दिष्ट न होने के कारण वह स्पष्ट नहीं होते। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जाति और विशेष गुण निर्विकल्प अवस्था में होते जरूर हैं, किंतु वह विशेष्य विशेषण संबंध से वस्तु मे लगाए नहीं जाते। उस समय यह ज्ञान नहीं होता कि यह वस्तु इन गुणों से युक्त है। श्रीधर वैशेषिक मत की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि निर्विकल्प में सामान्य और विशेष गुणो का ज्ञान तो होता है, किंतु यह ज्ञान नही होता कि यह सामान्य है और यह विशेष; क्योंकि उस समय तुलना करने के लिये और पदार्थों की स्मृति नहीं होती।

गंगेश का कथन है कि निर्विकल्प में गुण मात्र का ज्ञान होता है। "जात्यादि ज्ञानरहितं वैशिष्टयानवगाहि निष्प्रकारकम् निर्विकल्पकम्"। प्राचीन नैयायिक निर्विकल्प प्रत्यक्ष की संभावना मानते थे। नवीन लोग इसको आवश्यक मानते हैं, परंतु इसका प्रत्यक्ष नही मानते। बौद्धों के मत से निर्विकल्प ज्ञान ही ठीक है, सविकल्प ठीक नहीं है। प्रत्यक्ष के लौकिक और अलौकिक रूप से दो और भेद किए गए हैं। लौकिक का अर्थ साधारण है और अलौकिक का अर्थ

असाधारण। साधारण प्रत्यक्ष में इंद्रिय और पदार्थ का जो संबंध है, वह व्यापार कहलाता है। यह व्यापार छः प्रकार का माना गया है।

छः प्रकार के सन्निकर्ष

विषयेंद्रियसंबंधो व्यापारः सोऽपि षड्विधः।
द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायतः।
द्रव्येषु समवेताना, तथा तत्समवायतः॥
तत्रापि समवेतानां शब्दस्य समवायतः।
तद्वृत्तीना च समवेतसमवायेन तु ग्रहः॥
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत्।
विशेषणतया तद्वदभावाना ग्रहो भवेत्॥

भाषा-परिच्छेद।

इन छः संबंधो की व्याख्या नीचे दी जाती है।

(१) संयोग—संयोग से द्रव्य का ग्रहण होता है। घट का जो प्रत्यक्ष है, उसमे इंद्रिय और अर्थ का सयोग व्यापार होता है।

(२) सयुक्त समवाय—जब किसी पदार्थ मे समवेत चीज का (जैसे घड़े मे घड़ापन अथवा उसका रूप) प्रत्यक्ष होता है तो उस संबंध को संयुक्त समवाय संबंध कहते है। मन और सुख दुःख का जो संबंध है, उसे भी संयुक्त समवाय माना है।

(३) संयुक्त समवेत समवाय—घड़े के रूप में या अवांतर रंग में जो घड़े का रूपत्व या पीलापन प्रभृति समवेत रहता है, जब उसका ज्ञान होता है, तब उस संबंध का नाम संयुक्त समवेत समवाय कहलाता है। घड़े के साथ हमारे चक्षुरिंद्रिय का संयोग संबंध है। घडे में रूप समवेत है और रूप में रूपत्व समवेत है।

(४) समवाय—शब्द का जो प्रत्यक्ष होता है, उस इंद्रिय और अर्थ के संबंध को समवाय कहते हैं। कान के आकाश में शब्द के समवेत रहने के कारण इस संबंध को समवाय संबंध कहते हैं। श्रवणेंद्रिय को आकाश का परिच्छिन्न रूप माना है। इंद्रिय और उसके विषय में दूर का संबंध नहीं है। वह उसी से लगा हुआ है।

(५) समवेत समवाय—शब्दत्वजाति शब्द मे समवेत रहती है, उसका ज्ञान समवेत समवाय संबंध से होता है।

(६) विशेषणता—जहाँ अभाव का प्रत्यक्ष होता है, वहाँ विशेषण विशेष्य भ व होता है। मेज पर किताब नहीं है। 'मेज' विशेष्य है और 'कित ब नहीं है' अर्थात् किताब का अभाव विशेषण है। जिस संबंध से अभाव का प्रत्यक्ष होता है, उसे विशेषणता संबंध कहते हैं। विशेषणता संबंध के मानने में कई आचार्यों ने बाधा उठाई है। न्यायसार की पदपंचिका नामक टीका के कर्ता वासुदेव आचार्य का कहना है—"न पुनर्विशेषणविशेष्यभावोनाम कश्चित् संबंधः, विशेषण-

विशेष्यभावयोः प्रतिनियताश्रयवृत्तित्वेन द्विष्ठसंबंधरूप-त्वानुपपत्तेः" ।

अभिप्राय यह है कि विशेषण विशेष्य संबंध के लिये दो संबंधी चाहिएँ। विशेष्य विशेषण भाव एक वस्तु नहीं है, क्योंकि विशेषणविशेषयोर्भावः ऐसे समास से विशेष्य और विशेषण का भाव दो पदार्थ समझे जाते हैं। सुतरां वे अपने अपने आश्रयों मे रहते हैं, एक पदार्थ में नहीं रह सकते। इस वास्ते केवल विशेषणता को यदि संबंध माना जाय तो विशेषण मात्र निष्ठ होने से संभव है। यहाँ यह शंका होती है कि एक मात्र निष्ठ धर्म यदि संबंध हो तो संबंध की द्विष्ठता के नियम का भंग होता है। इसका उत्तर यह है कि उक्त प्रकार से नियम भंग नहीं होता; क्योकि वहाँ विशेषणता धर्म आश्रयता संबंध से एक मे रहेगा और निरूपकता संबंध से दूसरे में रह जायगा।

समवाय संबंध के विषय मे एक दो बातें बतला देना आवश्यक है। समवाय की इस प्रकार से परिभाषा की गई है—"अयुतसिद्धयोः संबंधः समवायः"। अयुत-सिद्धों के संबंध को समवाय कहते हैं। अयुत-सिद्ध की इस प्रकार परिभाषा की गई है—"ययोर्द्वयोरेकमविनश्यदपराश्रित-मेव तिष्ठति तावयुत-सिद्धौ"। अयुत-सिद्ध संबंध उन दो पदार्थों का होता है जिनमे से एक दूसरे पर सदा आश्रित रहता है; अर्थात् जब तक एक का नाश नहीं होता, तब तक

वह दूसरे के आश्रित ही रहता है। समवाय संबंध नीचे दिए हुए पदार्थों में माना गया है—

'अवयवावयविनोः गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोः जाति-व्यक्त्योः नित्यद्रव्यविशेषयोश्च संबंधः समवायः'। अवयव और अवयवी का, गुण और गुणी का, क्रियावान् और क्रिया का, जाति और व्यक्ति का, विशेष और नित्यद्रव्यो का संबंध समवाय है। यह संबंध नित्य माना गया है। इसके विपरीत सयोग संबंध अनित्य है। न्यायवाले अभाव और समवाय दोनों को प्रत्यक्ष मानते हैं। वैशेषिकवाले केवल अभाव ही को प्रत्यक्ष मानते हैं और समवाय को अनुमान-ग्राह्य मानते हैं।

अलौकिक प्रत्यक्ष

अलौकिक व्यापार या सन्निकर्ष तीन प्रकार का माना गया है।

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा॥

सामान्यं लक्षणं यस्याः प्रत्यासत्तेः। सामान्य-लक्षणा वह प्रत्यासत्ति या सबंध है जिसके द्वारा वस्तु सामान्य का प्रत्यक्ष होता है। हमको धूम का प्रत्यक्ष संयोग द्वारा होता है, और धूमत्व का प्रत्यक्ष संयुक्त समवाय द्वारा होता है। यह धूमत्व का ज्ञान केवल एक ही पुरोवर्त्ती धूम के ज्ञान से होता है, किंतु धूमत्व का ज्ञान जो सब जगह के धूमों मे पाया जाता है,

सामान्य-लक्षणा

हमको सामान्यलक्षणा द्वारा होता है। इस सन्निकर्ष को अलौकिक इसलिये कहते हैं कि सब स्थानों के धूमों का इंद्रिय सन्निकर्ष न होते हुए भी उनके सामान्य का ज्ञान हो जाता है। इस सामान्यलक्षणा के विषय मे यह शंका उठाई जाती है कि यदि हमको संसार भर के धूमों का ज्ञान हो जाय तो हम सर्वज्ञ हो जायँ। यह शंका ठीक नहीं। हमको सब धूमों के साधारण धर्म का ज्ञान हो जाता है, किंतु उनकी विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता। मनुष्यत्व के जानने से सब मनुष्यो के सामान्य गुण का ज्ञान हो गया; किंतु इसके साथ उनके विशेष गुणों का ज्ञान नहीं होता। वास्तव मे सामान्यीकरण एक प्रकार से मनुष्य की सर्वज्ञता को बढ़ाता भी है। कुछ बातें ऐसी भी हैं जो कि हम संसार भर के मनुष्यों के विषय मे कह सकते हैं। उस अंश मे हमारी सर्वज्ञता ही बढ़ती है। विज्ञान निरीक्षणों द्वारा व्याप्ति ज्ञान प्राप्त कर हमारे भविष्य संबंधी ज्ञान को बढ़ाता है।

'ज्ञानं लक्षणं यस्या प्रत्यासत्तेः सा ज्ञानलक्षणा'। जिस प्रत्यासत्ति का लक्षण ज्ञान है, उसको ज्ञानलक्षणा कहते हैं।

ज्ञानलक्षणा

जिस संबंध द्वारा एक इंद्रियजन्य ज्ञान से पूर्व स्मृति या संस्कार द्वारा 'एक-संबंधिज्ञानमन्यसंबंधिस्मारकं न्याय' (अर्थात् एक संबंधवाला ज्ञान दूसरे संबंधवाले ज्ञान का स्मारक होता है) के आधार पर और किसी इंद्रियजन्य ज्ञान का प्रत्यक्ष होता

है, उसको ज्ञानलक्षणा कहते हैं। जैसे किसी वस्तु की सुगंध से उसके स्वाद का प्रत्यक्ष होना या दूर से चंदन के देखने से उसकी सुगंधि का ज्ञान होना इसका उदाहरण है। इसमे ज्ञान द्वारा ही सन्निकर्ष होता है। इसलिये इसको ज्ञानलक्षणा कहा है। इसमे और सामान्यलक्षणा में यह भेद है कि सामान्यलक्षणा द्वारा देशांतरीय और कालांतरीय एक से पदार्थों के सामान्य गुणों का अनुभव होता है; किंतु ज्ञानलक्षणा द्वारा एक ही पदार्थ के विषय मे अन्य गुणों का, जो उस समय अनुभव नहीं किए गए, प्रत्यक्ष होता है। ज्ञानलक्षणा को अँगरेजी मे Suggested perception कहेगे और सामान्य लक्षणा को Generalisation कहेगे। व्याप्ति के संबंध मे सामान्य लक्षणा की एक बार फिर व्याख्या की जायगी।

योगज सन्निकर्ष—योगी लोग अपनी समाधि द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह योगज ज्ञान कहलाता है। सामान्यलक्षणा एवं ज्ञानलक्षणा-जन्य ज्ञान अलौकिक किंतु साधारण लोगों को होता है। योगज ज्ञान साधारण लोगों को नहीं होता। योगज के दो भेद किए गए हैं—एक युक्त और दूसरा युंजान।

योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः।
युक्तस्य सर्वदा भानं चिंता सहकृतोऽपरः॥

भाषापरिच्छेद।

योगज दो प्रकार का होता है—एक युक्त और दूसरा युंजान। युक्त योगी को तीनों काल का वर्तमान रूप से एक

साथ प्रत्यक्ष सदा रहता है। युंजान योगी को भूत, भविष्य या देशांतर का ज्ञान होता है, किंतु समाधि द्वारा विचारने से या चिंता करने से। ज्ञान के विभागों में इस प्रकार का ज्ञान आता है, इसलिये इसकी व्याख्या कर दी गई है। किंतु तर्कशास्त्र मे इसकी उपयोगिता बहुत कम है। मीमांसकों ने भी इसको नहीं माना है। ऊपर जो प्रत्यक्ष संबंधी बातें बतलाई गई हैं, उनका मनोविज्ञान से बहुत कुछ संबंध है। तर्कशास्त्र मे उन बातों के ज्ञान की आवश्यकता पडती है, इसलिये षट् सन्निकर्षादि विषयों की व्याख्या कर दी गई है। अनुमानादि प्रमाणों में बने बनाए ज्ञान के ऊपर विचार करना पड़ता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की सबसे पहली श्रेणी है; इस कारण उसमे ज्ञान की उपलब्धि की प्रक्रिया पर भी विचार करना पड़ता है। इस विचार करने मे मनोविज्ञान का विषय आ जाता है।

नवीन मत से प्रत्यक्ष के छः कारण माने गए हैं—

साधारण कारण

(१) मन और त्वचा का योग—जब मनुष्य गाढ़ निद्रा मे होता है, तब उसको कोई ज्ञान नहीं होता। इसका कारण यह है कि उस काल में मन और त्वचा का संयोग नहीं रहता। मन पुरीतत् नामक नाड़ी मे प्रवेश कर जाता है और तब ज्ञान नहीं होता। इस युक्ति से यह बतलाया गया है कि मन और त्वचा का योग ज्ञान का कारण है, क्योंकि इसका अभाव होने से ज्ञान का भी अभाव हो जाता है। मन और त्वक्

इंद्रिय का संयोग ज्ञान के लिये कारण मानना आवश्यक है। त्वक् इंद्रिय एक प्रकार से सब इंद्रियों का मूल रूप है। किंतु इस युक्ति मे आजकल के मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञानवाले विश्वास न करेंगे। आज कल के मत से गाढ़ निद्रा मे मस्तिष्क निष्क्रिय हो जाता है, और फिर या तो यह कहा जायगा कि मन के संवेदनों के उत्पन्न होने की संभावना ही नहीं रहती (यह उन लोगों का मत है जो आत्मा को पृथक् नहीं मानते और मन को मस्तिष्क मे ही संकुचित मानते हैं), या यह कहा जायगा कि मानसिक संवेदनों के प्रत्यक्ष होने का साधन बंद हो जाता है। बाजा बजानेवाला मौजूद हो, लेकिन बाजे की चाबी लगी हो तो जब तक चाबी न खुले, बजानेवाले को ठहरना पडेगा। (यह उन लोगो का मत है जो मन को मस्तिष्क में संकुचित नहीं मानते।)

(२) मन और इंद्रिय का संयोग और इंद्रिय और विषय का संयोग। रंग के प्रत्यक्ष में हमारे नेत्र का रंगीन पदार्थ के साथ योग होता है और नेत्र का मन से। कहा गया है—
"आत्मा मनसा मन इंद्रियेण इंद्रियं चार्थेन संयुज्यते"।

(३) इद्रियों के विषय का उचित आयाम या विस्तार न तो औचित्य से अधिक हो, जैसे आकाश का, और न औचित्य से कम, जैसे परमाणुओं का। इनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अनुमान ही हो सकता है।

असाधारण कारण

(४) विषय का स्पष्ट रूप से प्रकट होना; जैसे कड़ाही मे की अग्नि अथवा दिन में तारागणों का प्रत्यक्ष नही हो सकता।

(५) इंद्रिय के विषय पर आलोक (रोशनी) का होना। यह बात विशेषकर चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिये है, क्योंकि अँधेरे मे चाक्षुष प्रत्यक्ष नही हो सकता।

(६) प्रतिबंधको का अभाव—यह सभी प्रकार के ज्ञान में आवश्यक है। यदि आँख के सामने कोई ऐसा पदार्थ, जिसके आरपार न देखा जा सके, आ जाय तो चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि कोई आवाज़दार पदार्थ ऐसे बरतन में बंद कर दिया जाय (जिसमें से आवाज़ न सुनाई पडे) तो आवाज़ नहीं आ सकती। यही हाल गंध का है। बंद कर देने के अतिरिक्त यदि पदार्थ बहुत दूर हो या बहुत निकट हो तो भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। तारागणो के ऊपर का हाल दूरी के कारण नहीं दिखाई पड़ सकता। प्राय: सभी पदार्थों का प्रत्यक्ष वीचीतरंग न्याय से होता है। बहुत दूर के पदार्थों से आई हुई तरंगे शिथिल हो जाती हैं। अति निकट के पदार्थों की तरंगों का पूरा फैलाव नहीं होता; और बंद पदार्थों से निकली हुई तरंगें इद्रिय के पास नहीं पहुँच पाती हैं।

(तत्त्व चिंतामणि के आधार पर)

व्यक्ति का प्रत्यक्ष होता है, इसमे किसी को संदेह नहीं है। इसके संबंध मे एक यह प्रश्न उठाया गया है कि उसका

अवयवी का प्रत्यक्ष होता है अथवा अवयवों का। इस संबंध मे न्याय का कथन है कि अवयवी अवयवों से भिन्न है। जब

प्रत्यक्ष किसका हो सकता है

हम किसी वस्तु को देखते हैं, तब हम उसको देखते हैं, न कि उन परमाणुओं को जिनसे वह बनी है। परमाणु स्वयं निरवयव हैं। प्रभाकर का भी करीब करीब यही मत है। किन्तु कुमारिल का इसमे इतना कहना है कि जिस समय हम अवयवो की ओर ध्यान देते हैं, उस समय हमको अवयवी दिखाई देता है; और जिस समय अवयवों की ओर ध्यान देते हैं, उस समय अवयव दिखाई देते हैं। सांख्यवालों का भी यही मत है। बौद्ध लोग अवयवों को ही प्रधानता देते हैं। उनके मत से अवयवी कोई वस्तु नहीं है; वह केवल हमारे मन की कल्पना है। इसी प्रकार जाति के अस्तित्व और उसके प्रत्यक्ष के संबंध में भी मतभेद है। न्याय ने जाति की व्यक्तियों से पृथक् सत्ता मानी है और उसका प्रत्यक्ष भी माना है। बौद्ध लोग न जाति को मानते हैं और न उसके प्रत्यक्ष को। वह लोग जाति के स्थान मे जातीय गुणों के अभाव समूह अपोह को मानने हैं। वह जाति का प्रत्यक्ष भी नहीं मानते। मीमांसक लोग जाति का प्रत्यक्ष मानते हैं, किंतु उसकी व्यक्तियों से पृथक् सत्ता नहीं मानते।

तीसरा अध्याय

अनुमान की परिभाषा करने से पूर्व एक उदाहरण देकर तत्संबंधी पारिभाषिक शब्दों का परिचय करा देना आवश्यक है।

अनुमान संबंधी पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

पंचावयव अनुमान का उदाहरण—

(१) प्रतिज्ञा—पर्वत अग्निवाला है। (यहां अग्निवाला साध्य है।)

(२) हेतु—धूमवान होने के कारण। (यहाँ धूम लिंग है।)

(३) व्याप्ति वाक्य और उदाहरण—जहां जहाँ धूम है, वहां वहां अग्नि है (अन्वयव्याप्ति)। जैसे रेल का अंजन, मिल की चिमनी इत्यादि (सपक्ष); और जहां जहां अग्नि नहीं है, वहाँ वहां धूम भी नहीं है (व्यतिरेक व्याप्तिः)। जैसे वापी, कूप, तड़ाग, समुद्रादि (विपक्ष)।

(४) उपनय—पर्वत धूमवाला है। (यहाँ पर्वत पक्ष है।)

(५) निगमन—अतः पर्वत अग्निवाला है। अग्नि से व्याप्त धूमवाला यह पर्वत है, ऐसा विचार परामर्श कहलाता है। 'यही पर्वत अग्निवाला है' इस ज्ञान का, जो कि अनुमिति कहलाता है, उत्पन्न करनेवाला है।

अनुमान की कई प्रकार से परिभाषा की गई है। न्याय-दर्शन में अनुमान को तत्पूर्वक कहा है और तत्पूर्वक की न्याय-

अनुमान की परिभाषा वार्तिक में इस प्रकार व्याख्या की गई है—

तानि ते तत् पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकम्।

समास में तत् का अर्थ तानि, ते और तत् तीनों हो सकता है। यदि तत् का अर्थ 'तानि' लगाया जाय तो यह अर्थ होता है—'समस्तप्रमाणाभिसंबंधात् सर्वप्रमाणपूर्वकत्वम् अनुमानस्य वर्णित भवति'। सब प्रमाणों* से इसका सबंध होने के कारण सब प्रमाण जिसके पूर्व हैं।

यदि तत् का अर्थ 'ते' लगाया जाय तो व्याख्या इस प्रकार होगी—'ते पूर्वे यस्येति, ते द्वे प्रत्यक्षे पूर्वे यस्य तदिदं'। दो प्रत्यक्ष जिसके पूर्व मे हों, वह अनुमान है। वह दो प्रत्यक्ष कौन से हैं? ''लिंगलिंगिसंबंधदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षं लिंगदर्शनं द्वितीयम्'। लिंग और लिंगी का संबंध (धूम लिंग है और अग्नि लिंगी है) दर्शन अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण पहला प्रत्यक्ष है; और फिर लिंग का देखना दूसरा प्रत्यक्ष है। पहले प्रत्यक्षों के संस्कार रूप ज्ञान को मन मे रखते हुए दूसरी बार लिंग के देखने और पूर्व संस्कार-जनित ज्ञान और इस ज्ञान का मिलाने से अनुमान होता है। यही परामर्श है।

---

* भाष्यकार ने अनुमान का प्रत्यक्षादि सब प्रमाणों से संबध बतलाया है। "आगमः प्रतिज्ञा, हेतुरनुमानं। उदाहरण—प्रत्यक्षम् उपनयनमुपमानं, सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति।

यदि तत् का अर्थ तत् ही लगाया जाय तो व्याख्या इस प्रकार होगी—तत् का अर्थ प्रत्यक्ष लगाना पड़ेगा। दूसरे अर्थ में अधिक स्पष्टता दिखाई पड़ती है। तीसरे अर्थ से भी दूसरा अर्थ निकल सकता है। वह अर्थ इस प्रकार से लगाया गया है—

'यदा पुनस्तत्पूर्वं यस्य तदिदं तत्पूर्वकमिति तदा भेदस्याविवक्षितत्वात् लिंगलिंगिसंबंधदर्शनानंतरं लिंगदर्शनस्मृतिभिर्लिंगपरामर्शो विशिष्यते तस्य तत्पूर्वकत्वात्।'

संक्षेप से अनुमान की परिभाषा इस प्रकार की गई है—'स्मृत्यनुगृहीतो लिंगपरामर्शोऽनुमानं'; अर्थात् स्मृति से सहायता किया हुआ लिंगपरामर्श अनुमान कहलाता है। अनुमान में जो अनु उपसर्ग है, उसका अर्थ है पश्चात् इससे अनुमान पहले ज्ञान के पश्चात् अर्थात् उसके आधार पर होता है। वात्स्यायन भाष्य में अनुमान की जो परिभाषा दी गई है, वह अनुमान के शब्दार्थ पर ही है। वह इस प्रकार से है—मितेन लिंगेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्। मितेन अर्थात् नापे हुए या जाने हुए लिंग द्वारा पीछे से अर्थ के मापने या जानने को अनुमान कहते हैं। बाद के नैयायिकों ने अनुमान की जो व्याख्या की है, वह भी दूसरे अर्थ के आधार पर ही है। तर्कसंग्रह में अनुमान की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

'अनुमितिकरणमनुमानम्, परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा वह्निव्याप्य

धूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं पर्वतो वह्निमान् इति ज्ञानमनुमितिः। अनुमिति का करण अनुमान कहलाता है। परामर्शजन्य ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि परामर्श क्या है। 'व्याप्तिविशिष्ट-पक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः'। व्याप्ति (यत्र धूमस्तत्राग्नि-रिति साहचर्यनियमो व्याप्ति अर्थात् जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है, इस प्रकार के सहचार नियम को व्याप्ति कहते हैं) से विशिष्ट पक्षधर्मता (व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता अर्थात् धूम के पर्वतादि में रहने को पक्षधर्मता कहते हैं) के ज्ञान को परामर्श कहते हैं। इस परामर्श से उत्पन्न वह ज्ञान कि पर्वत अग्निवाला है, अनुमिति है। अर्थात् अनुमान न तो केवल व्याप्तिज्ञान से होता है और न पक्षधर्मता-ज्ञान से, वरन् दोनों के ही मिले हुए तीसरे ज्ञान से होता है। महानस, यज्ञशाला, रेल के अंजन या मिल की चिमनी आदि में धूम और अग्नि का संयोग देखकर यह व्याप्ति स्थापित की गई कि जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है। यह व्याप्ति संस्कार रूप से हमारे मन में रहती है; और फिर कभी पर्वत में धूमरेखा देखकर व्याप्ति का स्मरण हुआ, और उस व्याप्तिज्ञान के साथ 'पर्वत धूमवान है' इस ज्ञान के मिलने पर जो परामर्श रूपी ज्ञान हुआ, उससे यह अनुमिति हुई कि पर्वत अग्निमान् है।

न्यायसार में अनुमान की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

"सम्यगविनाभावेन परोक्षानुभवसाधनमनुमानम्"।

अर्थात् सम्यक् अविनाभावद्वारा परोक्ष अनुभव के साधन को अनुमान कहते हैं। सम्यक् शब्द से निश्चय वतलाया गया है। इसके प्रयोग से अनुमान का 'ऊहा' अर्थात् अटकल से भेद किया जाता है। 'परोक्ष अनुभव का साधन' इस वाक्यांश से अनुमान का प्रत्यक्ष प्रमाण से पृथक् किया गया है। शब्द और अनुमान दोनों ही परोक्ष ज्ञान के साधक हैं। इसलिये अविनाभाव शब्द द्वारा अनुमान को शब्दप्रमाण से पृथक् किया गया है। इस परिभाषा से प्रकट हुआ कि अनुमान का आधार अविनाभाव मे (अर्थात् एक दूसरे के विना न रहने का भाव या व्याप्ति) है। व्याप्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

"स्वभावत: साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभावः" अर्थात् साध्य के साथ साधन की स्वाभाविक (आरोपित नहीं) व्याप्ति को अविनाभाव कहते हैं।

व्याप्ति क्या ?

व्याप्ति मे व्याप्य व्यापक संबंध रहता है। अग्नि और धूम की व्याप्ति मे अग्नि व्यापक और धूम व्याप्य है। जिसकी व्याप्ति दिखलाई जाती है, उसे व्यापक कहते हैं; और जिसमें व्याप्ति दिखलाई जाती है, उसे व्याप्य कहते हैं। व्याप्य से व्यापक का अनुमान किया जाता है; व्यापक से व्याप्य का अनुमान नहीं हो सकता। जब तक साध्य और लिंग की व्याप्ति वरावर न हो, तब तक व्यापक से व्याप्य का

अनुमान नहीं कर सकते। व्याप्ति समान होने की अवस्था में दोनों एक दूसरे के व्याप्य व्यापक हो जाते हैं, और तब चाहे व्याप्य से व्यापक का अनुमान किया जाय और चाहे व्यापक का व्याप्य से। हम यह तो कह सकते हैं कि जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है; किंतु यह नहीं कह सकते कि जहाँ जहाँ अग्नि है, वहाँ वहाँ धूम है, क्योंकि तप्त लोहे के गोले में अथवा कोयलों में अग्नि होती है, किंतु उनमें धूम नहीं होता। इसका कारण यह है कि अग्नि धूम का व्याप्य नहीं है। व्याप्ति उपाधि-रहित होनी चाहिए। उपाधि की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

उपाधि

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा।
स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते॥

जो साध्य का व्यापक हो और हेतु का अव्यापक हो, वह उपाधि कहलावेगा। अग्नि और धूम के उदाहरण में आर्द्रेंधन-संयोग को उपाधि कहा है। गीले ईंधन का संयोग यहाँ उपाधि है। यदि ऐसा कहा जाय कि पर्वत धूमवान् है, वह्निमान् होने के कारण तो यह धूम का व्यापक है, किंतु अग्नि (जो कि हेतु के रूप में व्यवहृत हुआ है) का नहीं, क्योंकि कहीं तो अग्नि के साथ आर्द्रेंधन संयोग होता है और कहीं नहीं होता। उपाधि से हेतु (अर्थात् हेतु रूप से व्यवहृत होता है) का व्यभिचार सिद्ध हो जाता है और उसी के साथ हेतु और साध्य का व्यभिचार मालूम पड़ जाता है।

न्यायसिद्धांतमुक्तावली मे उपाधि का प्रयोजन इस प्रकार बतलाया है—"उपाधिव्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारानुमानमुपाधेः प्रयोजनम्"। अर्थात् हेतु का यदि किसी एक स्थल मे उपाधि के साथ व्यभिचार हो तो उसी से साध्य के साथ हेतु के व्यभिचार का भी अनुमान उपाधि का प्रयोजन है। वास्तव में उपाधि अनुमान का बाधक नहीं। भूल तब होती है जब कि उपाधि की ओर ध्यान न दिया जाय। अगर गीले ईंधन के संयोग की उपाधि का ध्यान ही रखा जाय और स्पष्टतया बतला दिया जाय कि जहाँ जहाँ अग्नि का गीले ईंधन से संयोग होता है, वहाँ वहाँ धूआँ होता है, तो वहाँ कोई व्यभिचार नहीं होता।

अब हम फिर अनुमान के प्रश्न पर आते हैं। अनुमिति के विषय मे कुछ लोगो का मत है कि व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान से ही अनुमिति हो जाती है; और किसी किसी का कहना है कि इन दोनों से उत्पन्न हुए परामर्श से अनुमिति होती है।

अनुमिति का करण और व्यापार

इस विषय मे भाषापरिच्छेद के कर्ता का मत इस प्रकार है—'व्यापारस्तु परामर्शः करणं व्याप्तिधीर्भवेत् अनुमायां'। व्याप्ति ज्ञान अनुमिति का करण है और परामर्श व्यापार है। इस स्थान पर करण और व्यापार का भेद बतला देना आवश्यक है। करण की परिभाषा इस

प्रकार की गई है—'असाधारणं (अर्थात् व्यापारवत्) कारणं करणं'; और व्यापार की इस प्रकार परिभाषा की गई है—'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः'—उससे उत्पन्न हो और उससे उत्पन्न होनेवाले का उत्पादक हो; अर्थात् करण से यह उत्पन्न होता है और करण से उत्पन्न होनेवाले कार्य्य का उत्पादक होता है। वृक्ष के कटने में कुठार करण है और तरु के साथ कुठार की वह क्रिया, जिससे तरु कटता है, व्यापार माना गया है। मीमांसक लोग परामर्श को अनावश्यक मानते हैं।

इसी प्रकार अनुमिति मे व्यापार परामर्श है और व्याप्ति का ज्ञान करण है। अनुमिति कार्य है, व्याप्ति ज्ञान करण है। व्याप्ति और पक्षधर्मता से मिला हुआ परामर्श रूपी तीसरा ज्ञान व्यापार है। परामर्श कभी व्याप्ति ज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान का समुच्चयसूचक शब्द नहीं है। इसमें दोनों शामिल हैं, किंतु यह दोनों से अलग तीसरा ज्ञान है। देखिए—

'महानसादौ धूमाग्न्योर्व्याप्तौ गृह्यमाणायां यद्धूमज्ञानं तदाद्यम् पक्षे यद्धूमज्ञानं तद् द्वितीयं अत्रैव वह्निव्याप्यत्वेन सद्धूमज्ञानं तृतीयं अयमेव लिंगपरामर्श इत्युच्यते।

न्याय-बोधिनी।

प्राचीन लोगों ने इसके विपरीत जाने गए लिंग को अनुमिति का करण माना है और लिंग परामर्श को व्यापार माना है। इस विषय में भाषा-परिच्छेद के लेखक ने यह

आपत्ति उठाई है कि यदि उक्त साध्य को करण माना जाय तो भूत भविष्यत् साध्य का अनुमान न हो सकेगा, क्योंकि उस समय ज्ञायमान लिंग कहाँ होता है ? व्याप्ति सब कालों और देशों के लिये होती है, किंतु जाने हुए लिंग का काल-विशेष से ही संबंध होता है। अतः लिंगज्ञान (व्याप्तिः) ही करण है।

अनुमान का मानसिक क्रम

अनुमान का मानसिक क्रम इस प्रकार से होता है—पहले तो रसोईंघर, यज्ञशाला, रेल का अंजन आदि देखकर हमको व्याप्ति ज्ञान हुआ (यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि हम दूसरों के व्याप्ति ज्ञान से भी लाभ उठा लेते हैं) किंतु उस स्थल मे व्याप्ति ज्ञान शब्द रूप होगा न कि प्रत्यक्ष। उसके पश्चात् जब पर्वतादिकों मे धूमरेखा देखी, तब हमको व्याप्ति की स्मृति हुई; और फिर उस व्याप्तिज्ञान के साथ पक्षधर्मता ज्ञान हुआ कि यह पर्वत धूमवाला है। इसके अनंतर यह ज्ञान हुआ कि वह्निव्यापक धूमवान् यह पर्वत है। तब हमको यह अनुमान होता है कि पर्वत अग्निवाला है। संक्षेप रूप से यह क्रम इस प्रकार है—(१) व्यभिचाररहित भूयोदर्शन से प्राप्त हुआ व्याप्तिज्ञान। (२) उसके पश्चात् लिंग को पर्वतादि पक्ष में देखना जो पक्षधर्मता ज्ञान कहलाता है। (३) फिर यह ज्ञान होना कि पर्वत मे जो धूम है, वह वह्निव्याप्य है। (४) अंत मे यह अनुमान होवा है कि यह पर्वत (वह्निव्याप्य धूमवान् होने से) अग्निवान् है। इस अनुमिति का करण व्याप्तिज्ञान

बतलाया जाता है। उपर्युक्त क्रम में जो तीसरा ज्ञान है, वह परामर्श है वही व्यापार है। परामर्श के दो रूप हो सकते हैं। एक तो व्याप्य: पक्षे और दूसरा पक्षो व्याप्यवान्। इसी के अनुसार अनुमिति के भी दो रूप हो जाते हैं—पक्षे साध्य: और साध्यवान् पक्ष:। कुछ लोगों का कहना है कि दोनों आकारों का फल साध्यवान् पक्ष. ही होता है।

व्याप्ति अनुमान का मूल आधार है। यदि व्याप्ति मे भूल हो जाय तो सारा अनुमान दूषित हो जायगा। व्याप्ति मे हम प्रत्यक्ष से कुछ बाहर जाते हैं। प्रत्यक्ष के आधार पर हम अपने व्याप्ति-

व्याप्ति

ज्ञान मे भूत भविष्यत् का व्यापक ज्ञान एक सूत्र मे इकट्ठा कर लेते हैं। इसी लिये इसमे भूल हो जाने की सभावना रहती है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि उपाधि का विचार न करने से हेतु किस प्रकार व्यभिचारी हो जाता है और साध्य तथा हेतु की व्यापकता नहीं हो सकती। यद्यपि पक्षधर्मता ज्ञान सदा प्रत्यक्ष ही होता है, तथापि संशय के कारण उसमे भूल हो जाने की संभावना है, जैसे कभी कभी धूलिरेखा को धूमरेखा समझ लेते हैं। तथापि व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा पक्षधर्मता ज्ञान मे भूल होने की कम संभावना है। युरोप के माध्यमिक काल के तार्किकों ने व्याप्तिग्रहण के साधनो पर कम ध्यान दिया था। हर्ष का विषय है कि हमारे यहाँ के तार्किकों ने इस पर पूरा पूरा

ध्यान दिया है। हमारे साधारण अनुमान में आगमन (Deduction) और निगमन (Induction) दोनों ही लगे रहते हैं। हमारे यहाँ के तार्किक किसी व्याप्तिनियम को कोरे विश्वास पर नहीं स्वीकार करते थे; उसकी पुष्टि के लिये कम से कम एक उदाहरण अवश्य दे देते थे। अनुमान की व्याख्या करते हुए बतलाया गया था कि सूत्रकार ने अनुमान को तत्पूर्वक कहा है। तत्पूर्वक की जो व्याख्या न्यायवार्तिक से बताई जा चुकी है, उसमें के तत् की व्याख्या करते हुए तत् का अर्थ ते लगाया गया था और ते का अर्थ इस प्रकार बतलाया गया था—"ते च द्वे प्रत्यक्षे लिंग-लिंगीसंबंधदर्शनमाद्यं प्रत्यक्षं, लिंगदर्शनं द्वितीयं।" लिंग-लिंगी संबंध ही व्याप्ति है। वार्तिककार के पूर्व आचार्य्य वात्स्यायन ऋषि ने भी इस बात को स्पष्ट कर दिया था। वात्सायन भाष्य मे 'तत्पूर्वक' वाक्यांश की इस प्रकार व्याख्या की गई है—"तत्पूर्वकमित्यनेन लिंगलिंगयोः संबंधदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसंबध्यते। लिंगलिंगिनोः संबद्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसंबध्यते। स्मृत्यालिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।" व्याप्ति का मूल स्वरूप लिंग और लिंगीका संबंध ही है। उदाहरण की परिभाषा मे भी व्याप्ति का थोड़ा सा दिग्दर्शन हो जाता है। उदाहरण की परिभाषा इस प्रकार है—'साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावीदृष्टांतमुदाहरणम्'। साध्य की सधर्मता के कारण तद्धर्म अर्थात् साध्य के धर्म का भाव रखनेवाला दृष्टांत उदाहरण कहलाता है। उदाहरण में

व्याप्तिग्रहण की सामग्री रहती है। जहाँ पक्ष और साध्य का संबंध स्पष्ट होता है, वहाँ कहीं कहीं एक ही उदाहरण से व्यापक नियम मिल जाता है, और नहीं तो बहुत से नियमों मे सहचार के आधार पर व्याप्ति की प्राप्ति हो जाती है। वैशेषिक दर्शन में व्याप्तिज्ञान का इस प्रकार दिग्दर्शन कराया गया है—"अस्येदं कार्य्यकारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैंगिकम्" अर्थात् यह इसका कार्य्य है, यह कारण है, यह संयोगी है, यह विरोधी है, यह समवायी है और यह लैंगिक ज्ञान है। वास्तव मे ये लैंगिक ज्ञान के मुख्य प्रकार हैं। बौद्ध नैयायिकों ने केवल दो ही संबंध माने हैं—तदुत्पत्ति और तादात्म्य तदुत्पत्ति कारण संबंध है और तादात्म्य अभेद संबंध है। इन सब संबंधों का अविनाभाव में समन्वय हो जाता है। मेरी राय में बौद्धों का व्याप्ति ज्ञान वैशेषिक के आधार पर है। बौद्धों से किसी बात को लेना हमारे लिये कोई गौरवहानि की बात नहीं, किंतु विचारक्रम ऐसा ही ज्ञात होता है कि बौद्धों के तादात्म्य और तदुत्पत्ति संबंध वैशेषिक पर ही आश्रित हैं। पीछे से नैयायिकों ने इन सब सबंधों को अविनाभाव के एक व्यापक नियम के अंतर्गत कर दिया। इस विवेचना से यह स्पष्ट होता हैं कि प्राचीन नैयायिक लोग उदाहरण के सादृश्य मात्र पर अनुमान नहीं करते थे, वरन् उदाहरण के व्यापक नियम के आधार पर करते थे। वैशेषिक दर्शन का सूत्र, जिसका यहाँ उल्लेख किया गया है, बतलाता है कि उन्होंने

अवयव अर्थात् उदाहरण को कार्यकारण संबंध का द्योतक बतलाया है। यह कहना कि दिङ्नाग से पूर्व के तार्किकों को व्यापक नियम का ज्ञान न था, ठीक नहीं है। नवीन नैयायिकों ने व्याप्ति की विशेष विवेचना की है। उनके खंडन मंडन के तारतम्य मे न पड़कर कुछ मुख्य लक्षण यहाँ पर दिए जायँगे। व्याप्ति की भिन्न भिन्न परिभाषाएँ इस प्रकार से दी गई हैं—

यत्र धूमस्तत्राग्निरिति सहचारनियमो व्याप्तिः।

तर्कसंग्रह।

जहाँ जहाँ धूआँ है, वहाँ वहाँ अग्नि है, इस प्रकार के सहचार अर्थात् साथ रहने का नियम व्याप्ति है।

स्वभावतः साध्येन साधनस्य व्याप्तिरविनाभावः।

न्यायसार।

साध्य के साथ साधन को अर्थात् हेतु स्वाभाविक अविनाभाव को व्याप्ति कहते हैं। साधन लिंग धूम के साथ साध्य अग्नि के साथ धूम पर रहनेवाला स्वाभाविक (सुभीते से आरोपित अथवा आकस्मिक नहीं) अविनाभाव*(उसके बिना

---

* मिल साहब ने व्याप्ति ग्रह के जो चार नियम बतलाए है, वे इस अविनाभाव का निश्चय करने मे काम आ सकते है। अविनाभाव का ज्ञान कराने मे व्यतिरेक रीति बहुत सहायक होती है। एक प्रकार से व्यतिरेक और अविनाभाव एक दूसरे के पर्य्याय हैं। अविनाभाव एक के बिना दूसरे के न रहने के भाव को कहते हैं। व्यतिरेक रीति मे भी यही देखा जाता है कि एक के अभाव से दूसरे का अभाव होता है या नहीं। मिल साहब के नियम अन्वय व्यतिरेक के ही आधार पर हैं।

उसका न रहना धूमलिंग अग्नि के विना नहीं रह सकता) व्याप्ति है। न्यायमंजरी में भूयोदर्शन की जो व्याख्या की गई है, वह अविनाभाव का रूप स्पष्ट कर देती है—"यस्मिन् सति भवनं यतो विना न भवनं इति भूयोदर्शनम्"।

'व्याप्तिश्च व्यापकस्य व्याप्याधिकरण उपाध्यभाव-विशिष्टः संबंधः'। व्यापक अर्थात् साध्य के साथ व्याप्य अर्थात् लिंग का एक आधार में रहना, और उसके साथ उपाधि का अभाव होना, व्याप्ति कहलाता है।

ऊपर की परिभाषा मे जो बात स्वभावतः शब्द से बतलाई गई थी, वही बात उपाध्यभावविशिष्ट से बतलाई गई है। व्यभिचाररहित साध्य और लिंग के समानाधिकरणत्व अर्थात् एक ही अधिकरण में रहने को व्याप्ति कहते हैं। जहाँ धूआँ है वहाँ अग्नि है, किंतु जहाँ अग्नि है, वहाँ धूआँ है, यह नहीं कह सकेंगे, क्योंकि इसमे हेतु व्यभिचारी हो जायगा। यह व्याप्ति आर्द्रेंधन संयोग रूप उपाधि के साथ ही ठीक होती है। समानाधिकरणता शब्द मे इस बात की कुछ शंका रहती है कि जब दोनों का समानाधिकरणत्व है, तो एक से दूसरे का अनुमान हो जाना चाहिए। उपाधि के अभाव का विशेषण लगाकर इस शंका की निवृत्ति की गई है। तर्कदीपिका मे साहचर्यनियम की व्याख्या करते हुए व्याप्ति का रूप इस प्रकार बतलाया गया है—

"हेतुसमानाधिकरणात्यंताभावप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरणम्"। हेतु के अधिकरण मे रहनेवाला जो अत्यंताभाव है, उसका प्रतियोगी (घटाभाव का प्रतियोगी घट कहलावेगा) न होनेवाला जो साध्य है, उस साध्य के अधिकरण में हेतु रहना व्याप्ति कहलाता है। अगली परिभाषा भी इससे मिलती जुलती है; उसी के साथ इसकी भी व्याख्या हो जायगी। नवीन नैयायिकों ने बहुत सी परिभाषाओं का खंडन करके नीचे लिखे शब्दों मे अपने मत से सिद्धांत व्याप्ति बतलाई है—

"हेत्वधिकरणवृत्त्यत्यंताभावाप्रतियोगिसाध्यसमानाधिकरणत्वम् व्याप्तिः।" जैसे जहाँ धूम रहता है, वहाँ अग्नि अवश्य रहती है। इस व्याप्ति के स्थल मे हेतु धूम है, उसके अधिकरण पर्वतादि हैं। उसमे रहनेवाला जो अत्यंताभाव हैं, वह घट पटादिक का अत्यंताभाव कहा जा सकता है; इसलिये उस अभाव के प्रतियोगी घट पटादि ही होंगे। अप्रतियोगी अग्नि ही होगा; क्योंकि जिसका अभाव होता है, वह प्रतियोगी कहलाता है। अग्नि का अभाव नहीं है, अतः वह अप्रतियोगी ठहरा। वही यहाँ साध्य भी है। उसका अधिकरण पर्वत है, उसमें धूम का रहना होता है; इस वास्ते धूम में अग्नि की व्याप्ति निर्विवाद हुई।

जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ अग्नि नहीं, वहाँ धूम भी नहीं। जहाँ

धूम है, वहाँ अग्नि का अभाव नहीं। इसी बात को यों बतलाया गया है कि धूम के अधिकरण में जिन चीजों का अत्यंताभाव हो सकता है, वह उसके अधिकरण मे रहनेवाला साध्य नहीं है। संक्षेप से यह हुआ कि साध्य का अभाव साधन के साथ एक अधिकरण मे नही रह सकता।

'धूमवान् वह्नेः' इस लक्षण का समन्वय न होने से इस व्यभिचार स्थल में व्याप्ति नहीं है; क्योंकि हेतु वह्नि है; उसका अधिकरण तप्त लौहपिंड है। उसमे रहनेवाला जो धूम का अत्यताभाव है, उसका प्रतियोगी धूम ही साध्य है। साध्य अप्रतियोगी नहीं हुआ, अत. यहाँ व्याप्ति नहीं हुई।

व्यतिरेक व्याप्ति—'साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं व्यतिरेकव्याप्तिः।' साध्य के अभाव का व्यापक जो अभाव है, उस अभाव का जो प्रतियोगित्व है, उसे व्यतिरेक व्याप्ति कहते हैं। जैसे 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल मे जहाँ वह्नि नहीं है, वहाँ धूम नहीं है, यह व्यतिरेक व्याप्ति होती है। यहाँ पर साध्य वह्नि है, उसका अभाव वन्ह्याभाव है; उसका व्यापक जो अभाव है वह धूमाभाव है; क्योंकि जहाँ वन्ह्याभाव रहता है, वहाँ धूमाभाव अवश्य ही रहता है। उस अभाव का प्रतियोगित्व धूम पर रहा; इससे वह्नि की व्यतिरेक व्याप्ति धूमनिष्ठ हुई। व्याप्ति के विषय को नवीन नैयायिकों ने बहुत ही पेचीदा बना दिया है। उसके समझने में बुद्धि चक्कर खाने लगती है। व्याप्ति की एक बडी और कठिन परि-

भाषा है जो पाठकों के विनोदार्थ (क्योंकि उसको समझना और समझाना बहुत कठिन है) यहाँ पर दी जाती है—

'साध्यतावच्छेदकसंबंधावच्छिन्नसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेदाधिकरणनिरूपित हेतुतावच्छेदक संबन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्न वृत्तित्तात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो व्याप्तिः। साध्यतावच्छेदक संबंध से अवच्छिन्न है अवच्छेदकता जिसकी, ऐसी है प्रतियोगिता जिसकी, ऐसे अन्योन्याभाव के अधिकरण से निरूपित, हेतुतावच्छेदक सम्बन्ध से और हेतुतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न है वृत्तिता जिसकी, ऐसा जो वृत्तित्तात्वावच्छिन्नप्रतियोगितावाला अभाव है, वह व्याप्ति कहलाताहै।

ये परिभाषाएँ बहुत कठिन हैं। साधारण विद्यार्थी का काम चलाने के लिये न्यायसार से जो परिभाषा दी गई है, वह ठीक है। अन्वय और व्यतिरेकव्याप्ति के संबंध मे इतना याद रखना आवश्यक है कि अन्वयव्याप्ति मे साधन के भाव के साथ साध्य के भाव का सहचार होता है; और व्यतिरेक व्याप्ति में साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव का सहचार होता है।

अन्वयव्याप्ति—यत्र यत्र धूमः (साधन) तत्र तत्र वह्निः (साध्य)।

व्यतिरेकव्याप्ति—यत्र यत्र वह्न्यभावः तत्र तत्र धूमाभावः। यदि इसके स्थान मे ऐसा कहा जाय कि जहाँ जहाँ

धूमाभाव है, वहाँ वहाँ वह्न्यभाव है तो व्यभिचार हो जायगा, क्योकि तप्त लोहपिंड में धूमाभाव है, किंतु वह्न्यभाव नहीं है। यही सिद्धांत नीचे के श्लोकों में दिया गया है—

व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद्विपरीतः प्रतीयते॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
साध्याभावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनान्यथा॥

जहाँ सम व्याप्ति होगी, वहाँ यह नियम नहीं लगेगा। कहीं कहीं तो अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति दोनो संभव हो जाती हैं और कहीं कहीं एक ही संभव होती है। जहाँ पर कोई विपक्ष न हो, वहाँ पर व्यतिरेकव्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि व्याप्ति के स्थापित करने के लिये कोई दृष्टांत चाहिए; और जहाँ पर कोई सपक्ष नहीं होता, वहाँ पर अन्वयव्याप्ति नहीं हो सकती। उसी व्याप्ति की संभावनाओ के आधार पर अनुमान के तीन प्रकार बतलाए गए हैं जिनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा। यद्यपि अनुमिति करने में अन्वयव्याप्ति एवं व्यतिरेकव्याप्ति दोनों ही की कारणता समान है, तथापि अन्वय द्वारा व्याप्तिनिश्चय प्रमात्मक सर्वत्र नहीं भी होता, जैसा व्यतिरेक द्वारा प्राप्त व्याप्तिनिश्चय होता है।

"किसी के रहने पर जो रहे" यह अन्वय का स्वरूप है। यथा दड चक्रादि के रहने से घडा होता है। किंतु यदि दैवात् किसी स्थल में किसी घटव्यक्ति के बनने के पूर्व मे रासभ

आ बैठे और उस घटव्यक्ति के बनने के बाद वह उठ जाय, तब उस घटव्यक्ति के संबंध मे रासभ रहने से यह कहना कि घट बना, यह अन्वय कहा जा सकता है। किंतु विचार दृष्टि से उस घटव्यक्ति के प्रति रासभ कारण नहीं कहा जा सकता। इससे अन्वय द्वारा व्याप्तिनिश्चय सार्वत्रिक सत्य ही होगा, यह नहीं कहा जा सकता। इसलिये जब व्यतिरेक देखते हैं, यथा रासभ के न रहने पर भी घड़े का बनना नहीं रुकता, तब रासभ की उपस्थिति घट का कारण नहीं रहती। सच्चा अविनाभाव व्यतिरेक द्वारा ही होता है। अन्वय और व्यतिरेक ही भूयोदर्शन को सार्थक बनाता है। "यस्मिन् सति भवनम् यतो विना न भवनम् इति भूयोदर्शनम्" (न्याय-मञ्जरी)। यही व्याप्ति का मूल है और यही आगमनात्मक तर्क का भी मूल है।

इस संबंध में अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति के विषय मे भी दो एक शब्द कह देना आवश्यक है। न्यायमजरी मे लिखा

अंतर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति।

है कि जब हम पर्वत मे धूम की वह्नि के साथ व्याप्ति की आशा करते हैं, तो उस समय धूम और वह्नि की व्याप्ति को अंतर्व्याप्ति कहते हैं; और सन्मुखवर्ती पर्वतस्थ धूम और वह्नि की व्याप्ति के अतिरिक्त महानस यज्ञशाला आदि धूमो की वह्नि के साथ जो व्याप्ति है, उसको बहिर्व्याप्ति कहते हैं। इस अंतर्व्याप्ति का आधार बहिर्व्याप्ति मे ही है।

अनुमान के प्रकार और उसके अंग

न्यायसूत्र मे अनुमान की परिभाषा करते हुए वह तीन प्रकार का बतलाया है।

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च"।

(१) पूर्ववत्, (२) शेषवत् और (३) सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

"यत्र कारणेन कार्य्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति"। जहाँ पर कारण से कार्य्य का अनुमान किया जाता है, जैसे (मेघों के बढ़ने से यह अनुमान किया जाता है कि वृष्टि होगी) वहाँ कारण पूर्व मे आता है, इसलिये कारण से कार्य्य के अनुमान को पूर्ववत् कहा है।

पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

शेषवत् की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

"यत्र कार्य्येण कारणमनुमीयते पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वं च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति"।

जहाँ कार्य से कारण का अनुमान किया जाय, वह शेषवत् अनुमान है। जैसे नदी को जलपूर्ण और वेग से जाते देखकर यह अनुमान किया जाता है कि नदी के स्रोत की ओर जलवृष्टि हुई है।

कार्य पीछे आता है, इसलिये कार्य से कारणवाले अनुमान को शेषवत् कहते हैं।

सामान्यतोदृष्ट की इस प्रकार व्याख्या की गई है—"सामान्यतोदृष्टं व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र दर्शनमिति तथा चादित्यस्य तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाऽप्यादित्यस्य व्रज्येति"। एक चीज को स्थानांतर में देखकर उसकी गति का अनुमान करना; जैसे सूर्य को एक स्थान से दूसरे स्थान मे देखकर यह अनुमान करना कि वह चलता है। सामान्यतोदृष्ट का अर्थ है सामान्यतोऽदृष्टं अर्थात जो चीज साधारण तौर पर न देखी जाय। सूर्य आदि की गति साधारण तौर पर नहीं देखी जाती। सामान्यतोदृष्ट का अर्थ सामान्यतोऽदृष्टं भी है; अर्थात् जो सामान्यतया देखा जाता है। जैसे जहाँ पानी होता है, वहाँ सारस और वगले भी होते हैं। सारसो को देखकर पानी का अनुमान करना इस प्रकार का उदाहरण होगा। यह अर्थ एक प्रकार से स्वाभाविक भी है। पूर्ववत् मे कारण से कार्य का अनुमान है, शेषवत् मे कार्य से कारण का अनुमान होता है; और सामान्यतोदृष्ट में उनका होता है जो सामान्यतया साथ साथ देखे जाते हैं। इसमें सहचार के सब उदाहरण आ जायँगे। भाष्य मे इन्हीं तीनो प्रकार के अनुमानों की एक और रीति से व्याख्या की गई है।

पूर्ववत्—जो चीज़ें पूर्व में एक साथ देखी हों, कुछ समय पश्चात् उनमें से एक को देखकर दूसरी वस्तु का अनुमान करना। जैसे पहले धूएँ और अग्नि को साथ साथ देखकर और फिर केवल धूएँ को देखकर अग्नि को देखना।

शेषवत्—एक वस्तु की बहुत सी संभावनाओं मे से एक को छोड़कर और सब संभावनाओं का निराकरण हो जाने पर शेष रहनेवाली संभावना के स्थापित करने को प्रशस्तपाद ने परिशेषनामा कहा है। जैसे शब्द या तो द्रव्य है, या गुण, या कर्म। यह बात सिद्ध होने पर कि शब्द न तो द्रव्य है और न कर्म, यह अनुमान होगा कि वह गुण है। यह एक प्रकार का वैकल्पिक (Disjunctive) अनुमान हुआ। इसके साथ यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसी भी सभावना हो सकती है जिसमे सभी बतलाई हुई संभावनाएँ झूठी हो जायँ। जैसे घोड़ा या तो सींगवाला है या फटे खुरवाला है या परवाला है।

सामान्यतोदृष्ट—जहाँ पर दो वस्तुएँ एक दूसरी से संबंध रखती हो और उनमे से एक वस्तु देखी जाय और दूसरी वस्तु ऐसी हो जो देखी न जा सके, तब देखी जाने योग्य वस्तु से न देखी जाने योग्य वस्तु का अनुमान करना इस प्रकार के अनुमान का उदाहरण होगा।

पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट वीत अनुमान कहलाते हैं और शेषवत् अवीत कहलाता है। वीत अनुमान वह है जिसमे किसी बात के होने से अनुमान किया जाय, और अवीत वह है जिसमे किसी बात के न होने से कुछ अनुमान किया जाय। शेषवत् मे कुछ संभावनाओं के न होने से ही शेष रहनेवाली सभावना का अनुमान किया जाता है। उद्यो-

तकराचार्य ने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट को अनुमान के प्रकार नहीं माना. वरन् इनका अर्थ अन्वय व्यतिरेक के आधार पर अनुमान-शुद्ध हेतु के लक्षणों मे लगाया है। पूर्ववत् का यह अर्थ है कि हेतु साध्य से अन्वित हो (पूर्व का अर्थ साध्य माना है)। शेषवत् से यह अभिप्राय है कि शेष उदाहरण भी हेतुसाध्य से अन्वित हो; और सामान्यतोदृष्ट से यह बतलाया गया है कि हेतुसाध्य और उसके प्रभाव दोनों स्थानों मे नहीं रहते। यह सब अनुमान जिनका कि हम अभी वर्णन कर चुके हैं, ऐसे हैं जिनमे विषय ज्ञान की पूरी पूरी आवश्यकता है। यह अँगरेजी अनुमान की भाँति केवल आकार के आधार पर निर्भर नहीं है। विपय के अनुसार अनुमानो के अनंत विभाग हो सकते हैं। नवीन नैयायिकों ने जो विभाग किया है, वह यद्यपि विपयज्ञान से स्वतत्र नहीं है, और आकार से विशेष संबंध रखता है, पर वह विभाग हेतु और व्याप्ति के आधार पर है। वह इस प्रकार से है— (१) केवलान्वयी (२) केवलव्यतिरेकी और (३) अन्वय-व्यतिरेकी।

(१) केवलान्वयी वह अनुमान है जिसमें केवल अन्वयव्याप्ति के आधार पर अनुमान किया जाय और जहा व्यतिरेकव्याप्ति संभव न हो। जैसे घट नामवाला है, प्रमेय होने के कारण; और जो प्रमेय है, वह नामवाला है। यहाँ पर व्यतिरेकव्याप्ति की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि कोई

ऐसा पदार्थ नहीं जो नामवाला हो और प्रमेय न हो। ऐसे अनुमान में विपक्ष नहीं होता।

(२) केवलव्यतिरेकी वह अनुमान है जिसमें केवल व्यतिरेकव्याप्ति के आधार पर अनुमान किया जाय और जिसमें अन्वयव्याप्ति की संभावना न हो।

जैसे 'जीवच्छरीर सात्मकं प्राणादिमत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः'। अर्थात् जीववत् शरीर सात्मक है, प्राणवाला होने से, जो प्राणवाला नहीं है, वह आत्मावाला नहीं है; जैसे घट। यहाँ पर जीवित शरीरों के अतिरिक्त प्राणवाला और आत्मावाला पदार्थ कोई नहीं, इसलिये इसमे सपक्ष की संभावना नहीं है।

व्यतिरेकव्याप्ति के न मानने के ही कारण उन्होंने अर्थापत्ति नाम का एक स्वतंत्र प्रमाण माना है। मीमांसकों का कहना है कि अभाव की व्याप्ति से भाव सिद्ध नहीं हो सकता; क्योकि अभाव की व्याप्ति को किसी सिद्धांत के अंतर्गत नहीं करना होता।

वेदांतियों और मीमांसकों ने केवल व्यतिरेकी अनुमान नहीं माना। अन्वयव्यतिरेकी वह अनुमान है जिसमें अन्वय और व्यतिरेकव्याप्ति दोनों ही संभव हों। जैसे पर्वत वह्निमान है, धूमवान होने के कारण। इसमें दोनों तरह की व्याप्तियाँ संभव हैं। जो धूमवान है, वह वह्निमान है; जैसे महानस। और जो वह्निमान नहीं है, वह धूमवान

भी नहीं है; जैसे तालाव या नदी। पर्वत धूमवान है, अतः वह वह्निमान है।

शब्द अनित्य है, क्योंकि वह उत्पत्ति धर्मवाला है। जो अनित्य नहीं है, वह उत्पत्ति धर्मवाला नहीं है। जैसे आत्मा।

व्यतिरेकव्याप्ति के आधार पर अनुमान

शब्द उत्पत्ति धर्मवाला है। यहाँ पर उत्पत्ति धर्मवाला न होने का निषेध किया गया और निगमन में भी साध्य अनित्य न होने का निषेध है। यह अनुमान अँगरेजी हिसाब से Cesase में है। भाव और अभाव के आधार पर जैन नैयायिकों ने अनुमान के चार प्रकार वतलाए हैं—

(१) भाव से भाव; जैसे अग्नि है, क्योंकि धूआँ है। (२) भाव से अभाव; जैसे शीत नहीं है, क्योंकि यहाँ अग्नि है। (३) अभाव से भाव; जैसे यहाँ पर शीत है, क्योंकि अग्नि नहीं है। (४) अभाव से अभाव; जैसे यहाँ पर आम्रवृक्ष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर कोई वृक्ष नहीं है।

स्वार्थ और परार्थ के आधार पर अनुमान के दो और भेद किए गए हैं। अपने निश्चय के लिये जो अनुमान होता है,

स्वार्थानुमान, परार्थानुमान

वह स्वार्थानुमान है; और जो अनुमान दूसरों के समझाने के अर्थ होता है, वह परार्थानुमान कहलाता है। स्वार्थानुमान में अनुमान का मानसिक क्रम रहता है और परार्थानुमान मे विवाद का क्रम रहता है। पूर्व निरीक्षणों द्वारा अग्नि और धूम की

व्याप्ति का ग्रहण कर सन्मुखवर्ती पर्वत में धूआँ देखने से उस पूर्व निश्चित व्याप्ति के स्मरण से अपने लिये यह अनुमान कर लेना कि यह पर्वत अग्निवाला है, स्वार्थानुमान का उदाहरण होगा। इसमे केवल लिंग परामर्श से काम चल जाता है। स्वार्थानुमान को प्रशस्तपाद ने स्वनिश्चितार्थ अनुमान कहा है। परार्थानुमान में नियमपूर्वक पाँच अवयवों का होना आवश्यक है, क्योकि दूसरे को समझाने मे शब्दप्रयोग बिना निर्वाह नहीं होता। उस समझाने में जितने (न्यूनाधिक नहीं) वाक्यों की आवश्यकता पड़ती है, वे न्याय मे अंग या अवयव कहलाते हैं। न्यायसूत्र से अनुमान के पाँचो अवयव इस प्रकार गिनाए हैं—

"प्रतिज्ञा हेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा:"

अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन अवयव हैं। कुछ नैयायिको ने जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास ये पाँच और अवयव माने हैं।

पंचावयव

जिज्ञासा—अज्ञात पदार्थ के जानने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं।

संशय—जिज्ञासा का मूल संदेह मे होता है। यह पदार्थ कैसा होगा, उपादेय होगा अथवा त्याग करने योग्य होगा, अथवा जैसा बतलाया जाता है, वैसा है या नहीं, ऐसा विचार करने पर जिज्ञासा होती है।

शक्यप्राप्ति—प्रमेयों के जानने के लिये प्रमाता के प्रमाण; जैसे कोई मतवाले पाँच प्रमाण मानते हैं और कोई चार।

प्रयोजन—तत्त्व का निश्चय करने के अर्थ जो साधक वाक्य रहता है, उसका यह फल है। किसी बात के जानने का जो फल हो, उसे प्रयोजन कहते हैं। जैसे प्रमाण प्रमेय आदि के तत्त्वज्ञान से निश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति होती है। यहाँ पर निःश्रेयसाधिगम प्रयोजन है। आजकल के कुछ दार्शनिक लोग (Pragmatists) सभी ज्ञानों को सप्रयोजन मानते हैं; ज्ञान का प्रयोजनवान् होना ही उसकी सत्यता की कसौटी मानते हैं। उनका कहना है कि जिस ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं, वह न सत्य ही है और न असत्य।

संशयव्युदास—तर्क मे जो बात सिद्ध की गई हो, उसके विरुद्ध जो बातें मालूम हो, उनका निराकरण करना।

यद्यपि इन सब बातों का बहस में काम पड़ता है, किंतु प्रतिज्ञा आदि की भाँति यह अनुमान मे नहीं रक्खे जाते; इसलिये इनको अनुमान के अवयवो मे नही माना है। जैन तार्किक सुभद्रबाहु ने दश अवयव इस प्रकार बतलाए हैं— (१) प्रतिज्ञा, (२) प्रतिज्ञाविभक्ति, (३) हेतु,(४) हेतु-विभक्ति, (५) विपक्ष, (६) विपक्षप्रतिषेध, (७) दृष्टांत, (८) आकांक्षा अर्थात् दृष्टांत में संशय, (९) आकांक्षा प्रतिषेध और (१०) निगमन। अब प्रतिज्ञा आदि अनुमान के पंचावयवों की एक एक करके व्याख्या की जाती है।

(१) प्रतिज्ञा—साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा—साध्य का बतलाना प्रतिज्ञा है। तर्कसंग्रह की पदकृत्य टीका मे इसकी इस प्रकार परिभाषा दी गई है—'साध्यविशिष्टपक्षबोधकवचनं प्रतिज्ञा'। साध्य से विशिष्ट पक्ष को बतलानेवाला वचन प्रतिज्ञा है। जो बात सिद्ध की जानेवाली हो, वह साध्य कहलाती है। न्यायसार मे प्रतिज्ञा की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—'प्रतिपादयिषया पक्षवचनं प्रतिज्ञा'। प्रतिपादन करने की इच्छा से पक्ष बतलाने को प्रतिज्ञा कहते हैं। वाद विवाद में पहले बतला देना पड़ता है कि हमे क्या सिद्ध करना है जिससे दूसरा पक्ष युक्ति को सचेत हो सुने। इसे उर्दू में दावा कहते हैं।

(२) हेतु—न्यायसूत्रो मे हेतु की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—

उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतु (१।१।३४) तथा वैधर्म्यात् १।१।३५

उदाहरण की समानता तथा विपरीतता से साध्य के साधन को हेतु कहते हैं।

साधर्म्य का उदाहरण—शब्द अनित्य है, उत्पत्ति धर्मवाला होने से, जो जो उत्पत्ति धर्मवाला है, वह अनित्य है, जैसे घट।

वैधर्म्य का उदाहरण—शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मक होने से; जो अनित्य नहीं है, वह उत्पत्तिधर्मक नहीं है।

न्यायसार मे हेतु की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—'साधनत्वाव्यापकं लिगवचनं हेतुः'। साधनता बतानेवाला लिंग वचन हेतु है (व्याप्तिबलेन लीनमर्थं गमयति इति लिंगं) व्यापकं साध्यम् व्याप्यं लिगं। हेतु वा लिंग को अँगरेजी मे Middle Term कहते हैं। यही हेतु साध्य (Major Term) का साधक समझा जाता है। व्याप्तिवाक्य मे लिंग या हेतु व्याप्य होता है और साध्य व्यापक होता है। साध्य का विस्तार हेतु से बडा होता है। जब यह बतलाया जाता है कि लिंग विशिष्ट है और साध्य लिंग का व्यापक है, तब उससे यह अनुमान होता है कि पक्ष भी साध्य-विशिष्ट है। "येन विना यदनुपपन्नं तत्तेन आक्षिप्यते"। अर्थात् जिसके विना जो नही हो सकता, वह उसके द्वारा लाया जाता है। हेतु के विना साध्य अनुपपन्न है, अर्थात् असिद्ध है, इसलिये हेतु से साध्य का अनुमान किया जाता है और वह साध्य का साधक कहलाता है।

सब हेतुओं से अनुमान नही हो सकता; केवल सद्धेतु से होता है। इसके पाँच लक्षण बतलाए गए हैं।

(१) पक्षधर्मत्वं अर्थात् पक्ष मे रहना—हेतु ऐसा होना चाहिए जो पक्ष में साध्य के साथ रह सके। यदि कोई कहे कि लोहपिंड अग्निवाला है, धूमवाला होने के कारण, तो धूम-वाला होना ऐसा हेतु है जो लोहपिंड में नही रहता।

(२) सपक्षे सत्वं—हेतु ऐसा हो जो सपक्ष में रहता हो। अर्थात् साध्य के रहने के सब स्थलों में अथवा कुछ

स्थलो मे हेतु को रहना चाहिए। जहाँ पर सम व्याप्ति होगी, वहाँ पर साध्य के सभी स्थलों मे हेतु पाया जायगा; और जहाँ पर विषमव्याप्ति होगी, वहा पर साध्य के कुछ स्थलों में पाया जायगा। यह जरूरी नहीं है कि हेतु साध्य के सभी स्थलों में पाया जाय; क्योंकि यदि ऐसा होता तो 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' धूमात् सत् हेतु न होता; क्योंकि धूम सब वह्निमान पदार्थों मे नही पाया जाता। किंतु इसके साथ इस बात का ध्यान रहे कि जिन स्थलो में वह पाया जाता है, उन स्थलों के सवर्गी सब पदार्थों में पाया जाय। वह कुछ स्थल अनिश्चित स्थल न हो। सपक्ष मे पाया जाना मात्र सत् हेतु का लक्षण नहीं है। उसी के साथ वह विपक्ष मे न पाया जाय। केवलाव्यतिरेकी अनुमान के हेतु के विषय मे इस लक्षण के कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि उसमें पक्ष होता ही नहीं।

(३) विपक्षाद्व्यावृत्तिः—विपक्ष से व्यावृत्ति अर्थात् विपक्ष मे न पाया जाय; जहाँ जहाँ साध्य नहीं पाया जाता, वहाँ वहाँ हेतु भी नहीं पाया जाना चाहिए। यदि हेतु ऐसे किसी स्थल मे पाया जायगा तो व्यभिचारी होगा। जैसे घोड़ा सींगवाला है, पशु होने के कारण; जैसे गाय।

पशुत्व सींगवाले जानवरों मे भी पाया जाता है और गैर सींगवाले जानवरों मे भी; जैसे गधे, हाथी इत्यादि मे भी पाया जाता है। केवलान्वयी अनुमान मे विपक्ष होता ही नहीं, इसलिये यह लक्षण बाधा न डालेगा।

(४) बाधित विषयत्व—जिसका विषय बाधित न हो अर्थात् जो किसी निश्चित सिद्धांत वा घटना वा प्रत्यक्ष से विरोध न करे। जैसे बुद्धि अनित्य है, मूर्त होने के कारण। बुद्धि मूर्त नहीं मानी गई है। यह हेतु सिद्धात के विरुद्ध है।

(५) असत्प्रतिपक्षत्व—प्रतिपक्ष अर्थात् दूसरा प्रतिपक्ष वा प्रतिसाधन न होगा। जहाँ पर तुल्य बलवाला हेतु वर्तमान हो वहाँ दोनों हेतु अनिश्चित हो जाते हैं। सत्प्रतिपक्ष का उदाहरण हेत्वाभासो मे मिलेगा। इन पाँचों लक्षणो का उल्लेख मुद्राराक्षस मे अच्छे मंत्रियो का वर्णन करते हुए इस प्रकार आया है—

रहत साध्य तें अन्वित अरु बिलसत निज पच्छहि।
सोई साधन साधक जो नहिं छुअत बिपच्छहि॥
जो पुनि आपु असिद्ध सपच्छ बिपच्छहु मे सम।
कछु कछु नहिं निज पच्छ माँहि जाको है संगम॥
नरपति ऐसे साधनन को अनुचित अंगीकार करि।
सब भाँति पराजित होतही बादी लौ बहुविधि बिगरि॥

इन लक्षणो से रहित जो हेतु हैं, वह सब हेत्वाभास हैं। उनके अनेक प्रकार हैं। उनका वर्णन अलग किया जायगा।

(३) उदाहरण—साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावीदृष्टान्तमुदाहरणम् तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्।

साध्य के साधर्म्य से उस धर्मवाला दृष्टान्त वा उसके विरुद्ध धर्मवाला दृष्टान्त उदाहरण कहलाता है।

जैसे शब्द अनित्य है, उत्पत्ति धर्मवाला होने से, घटवत्। यहाँ पर घट उदाहरण है। यही उदाहरण व्याप्ति का मूल है। कुछ लोगों का यह कहना है कि उदाहरण को व्याप्ति का रूप पहले पहल बौद्धों ने दिया था। उदाहरण के विषय मे Hindu Logic as preserved in China and Japan के लेखक का मत है—

"There is no more inappropriate name in Hindu Logic than 'example' applied as it is to the major premise To understand the use of such a term, we must remember that previous to Dinnag's time the major premise was replaced by an enumeration of homogeneous and heterogeneous examples from which one has to draw the analogy"

इनके कहने का अभिप्राय यह है कि दिङ्नाग से पूर्व दृष्टान्तो के साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर उपमान द्वारा अनुमान किया जाता था।

आचार्य सतीशचंद्र विद्याभूषण का भी ऐसा ही मत है। यदि यह मान लिया जाय कि व्याप्ति को स्पष्ट रूप बौद्धों ने ही दिया, तो भी प्राचीन लोग जो अनुमान करते थे, वह दृष्टान्त से नहीं वरन् दृष्टान्त में जो साध्य और हेतु का संबंध है, उसके आधार पर करते थे। वात्स्यायन भाष्य मे तत्पूर्वक की जो

व्याख्या है, वह इस बात को स्पष्ट कर देती है—"तत्पूर्वक-मित्यनेन लिंगलिंगिनोः संबंधदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसंबध्यते"। लिंग लिंगिनो-संबंधदर्शनं ही तो व्याप्ति है। दिङ्नाग ने अपने प्रमाणसमुच्चय नाम के ग्रंथ मे वात्स्यायन भाष्य का खंडन किया है; इससे भाष्य उनसे पूर्व का है। प्रशस्तपाद भाष्य तो बैाद्धो से बहुत काल पूर्व का है। उसमे व्याप्ति का विचार स्पष्ट है। इसमें कुछ विवाद अवश्य है कि दिङ्नाग पूर्व थे या प्रशस्तपाद। विश्वकोष के कर्ता के मत से प्रशस्तपाद ही पूर्व थे। व्याप्ति की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि वैशेषिक दर्शन मे बैाद्धो के व्याप्ति सबंधी तादात्म्य श्रैार तदुत्पत्ति संबंध पहले से थे। फिर यदि सब अनुमान उपमान के श्राधार पर ही होता तो अनुमान श्रैार उपमान दो प्रमाण पृथक् न माने जाते श्रैार हेत्वाभास तथा जातियाँ पृथक् लिखी जातीं। श्राजकल तो उदाहरण को व्याप्तिप्रतिपादक दृष्टांत वचन मानते हैं। "व्याप्तिप्रतिपादकदृष्टान्तवचनम् उदाहरणम्" पदकृत्य।

(४) उपनय—उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः। उदाहरण के अनुसार ऐसा है या नहीं है, इस प्रकार साध्य का उपसंहार उपनय कहलाता है। साधर्म्य श्रैार वैधर्म्य के कारण उपनय भी दो प्रकार का होगा। जैसे शब्द अनित्य है, उत्पत्तिवाला होने से। जो उत्पत्तिवाला है, वह अनित्य है, जैसे घट। शब्द उत्पत्ति धर्मवाला है; अतः शब्द अनित्य है।

यहाँ पर "शब्द उत्पत्ति धर्मवाला है" यह उपनय है। पदकृत्य टीका मे उपनय की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—"उदाहृतव्याप्तिविशिष्टत्वेन हेतोः पक्षधर्मताप्रतिपादकवचनम् उपनयः"। अर्थात् उदाहरण मे बतलाई हुई व्याप्ति से विशिष्ट हेतु का पक्ष में रहना बतलानेवाला वाक्य उपनय कहलाता है। उपनय यह बतलाता है कि हेतु जो साध्य का व्याप्य है, पक्ष में रहता है। अनुमान के लिये व्याप्ति और पक्ष-धर्मता ज्ञान दोनों आवश्यक हैं। व्याप्ति से हेतु का साध्य के साथ संबंध बतलाया जाता है और पक्षधर्मता मे हेतु का पक्ष में रहना बतलाया जाता है। इन ज्ञानों के एक साथ होने से जो परामर्श होता है, वही अनुमिति का कारण होता है। व्याप्ति का ज्ञान उदाहरण से मिलता है और पक्षधर्मता का ज्ञान उपनय से मिलता है। उपनय अँगरेजी तर्क में Minor premise या पक्ष वाक्य कहलावेगा और दृष्टांत साध्य Major premise वाक्य कहलावेगा।

(५) निगमन—न्यायसूत्र में निगमन की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्। हेतु के कहे जाने पर प्रतिज्ञा के दुहराने को निगमन कहते हैं। प्रतिज्ञा और निगमन में यही अंतर है कि प्रतिज्ञा कथन मात्र है और निगमन हेतु द्वारा सिद्ध की हुई प्रतिज्ञा है। भाष्य में निगमन की इस प्रकार व्याख्या की गई है—'निग-म्यन्ते अनेनेति प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम्

निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते संबध्यंते' । जिसके द्वारा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय सब संबंध में लाए जायँ, वही निगमन है। अनुमान मे भी वाक्य एक दूसरे से संबंध रखते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुमान के किसी वाक्य के आधार पर अनुमिति नहीं होती, वरन् सब के मिलने से होती है।

अनुमान के पाँचों अवयवों की व्याख्या हो गई। अब पक्ष, सपक्ष और विपक्ष की, जिनका ऊपर उल्लेख कर आए हैं, व्याख्या करना बाकी है।

पक्ष—(Minor Term) संदिग्धसाध्यवान् पक्षः। जिस का साध्य (Major Term)संदिग्ध हो; अर्थात् हमको जिस (पक्ष) के विषय में यह सिद्ध करना है कि साध्य उसमे रहता है वा नहीं है। यह बात निगमन मे आकर निश्चित होती है कि साध्य पक्ष में रहता है।

सपक्ष—निश्चित साध्यवान् सपक्ष.—जो सपक्ष उदाहरण होते हैं, उनमें यह बात निश्चयपूर्वक मालूम रहती है कि साध्य पक्ष मे रहता है। इसी निश्चय के आधार पर व्याप्ति बनाई जाती है। विपक्ष-निश्चित, साध्याभाववान् विपक्षः। निश्चित रूप से साध्य का अभाववाला विपक्ष कहलाता है। विपक्ष मे साध्य नहीं रहता। विपक्ष विपरीत उदाहरणों को कहते हैं। सपक्ष से सबंध रखनेवाली अन्वयव्याप्ति है और विपक्ष से संबंध रखनेवाली व्यतिरेकव्याप्ति है।

अँगरेजी तर्क में अनुमान तीन ही अवयवों का होता है। साध्यवाक्य वा व्याप्तिसूचक वाक्य—सब धूमवान् पदार्थ अग्निवान् हैं। पक्षवाक्य वा उपनय—पर्वत धूमवान् है। निगमन—अतः पर्वत अग्निवान् है। मीमांसक और वेदांती लोग प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण तीन ही अवयव मानते हैं। वह पाँचो अवयवों को आवश्यक नहीं मानते। बौद्ध नैयायिकों ने दो ही अवयव माने हैं।

जैन लोग तीन अवयव मानते हैं। मीमांसकों, जैनो और बौद्धो के मत से अवयवो का क्रम उलटा भी जा सकता है; अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन।

वैशेषिक दर्शन मे इन पाँचों अवयवो का नाम इस प्रकार से है—प्रतिज्ञा, उपदेश, निदर्शन, अनुसंधान और प्रत्याम्नाय।

मीमासक लोग साध्य को गम्य कहते हैं और लिंग को गमक कहते हैं।

व्याप्तिग्रहोपाय

व्याप्ति का रूप और उसके प्रकार भी बतला दिए गए। लेकिन अभी यह बतलाना रह गया है कि यह व्याप्तिग्रहण किस प्रकार से होता है। व्याप्ति केवल दूसरो के कहने पर नहीं मान ली जाती और न सावधानतारहित निरीक्षण के फल से प्राप्त होती है। कभी ऐसा होता है कि सैंकड़ों बार सह-

व्याप्ति के ग्रहण मे सावधानी की आवश्यकता

चार के देखे जाने पर भी ऐसा उदाहरण मिल जाता है जिसमें व्यभिचार हो जाता है। जैसे सभी लोग देखते हैं कि जितने पार्थिव पदार्थ हैं, उन सब पर लोहे की धार से अंक बन जाता है। यह प्रति दिन का अनुभव है। किंतु इससे यदि यह व्याप्ति बना ली जाय कि जहाँ जहाँ पार्थिवत्व है, वहाँ वहाँ लोहे से अंकित होने की योग्यता है, तो यह व्याप्ति तभी तक ठीक है जब तक किसी ने काँच और हीरा न देखा हो। न तो काँच ही पर लोहे की धार से अंक होता है और न हीरे ही पर। यहाँ पर यह व्याप्ति दूषित हो गई। इसलिये व्याप्ति निश्चित करने मे बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। व्याप्ति मे दो बातें देखी जाती हैं—एक सहचार और दूसरे उस सहचार का नियतत्व। नीचे की कारिका में व्याप्ति ग्रह का उपाय बतलाया गया है—

"व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा।
हेतुर्व्याप्तिग्रहे तर्क. क्वचिच्छङ्कानिवर्तक:॥"

व्याप्तिग्रह के उपाय

अर्थात् व्यभिचार का अ-ग्रहण तथा सहचार का ग्रहण व्याप्तिग्रहण मे कारण है; और कहीं कहीं यदि व्यभिचार की मिथ्या शंका हो जाय तो वह तर्क द्वारा निवृत्त की जाती है।

इस कारिका की टीका इस प्रकार से की गई है—व्यभिचाराग्रह: सहचारग्रहश्च व्याप्तिग्रहे कारणमित्यर्थ:। व्यभिचारग्रहस्य व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धकत्वात् तदभाव: कारणम्।

एवं अन्वयव्यतिरेकाभ्या सहचारग्रहस्यापि हेतुता। भूयोदर्शनं तु न कारणम्, व्यभिचारास्फूर्तौ सकृद्दर्शनेपि क्वचिद्व्याप्तिग्रहात् क्वचिद्व्यभिचारशंकाविधूननद्वारा भूयो-दर्शनमुपयुज्यते।

अर्थात् व्यभिचार का अ-ग्रहण और सहचार का ग्रहण व्याप्तिग्रह मे कारण है। व्यभिचार का ज्ञान व्याप्तिग्रह में प्रतिबंधक है, इसलिये उसका अभाव भी कारण है। जहाँ पर व्याप्ति मे व्यभिचार आया, वहाँ व्याप्ति नहीं रही और उसके आधार पर कोई अनुमान नहीं हो सकता। जब तक साध्य साधक का संबंध ऐसा हो कि उसमे कोई अपवाद न हो, तभी तक उसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है। इसी लिये व्यभिचार का न होना कारण है। अन्वय और व्यतिरेक द्वारा जाना हुआ सहचार भी कारण है। एक चीज़ के होते हुए दूसरी चीज़ के होने को अन्वय कहते हैं; और एक चीज़ के अभाव से दूसरी चीज़ के अभाव को व्यतिरेक कहते हैं। सहचार अन्वय और व्यतिरेक दोनों ही से जाना जाता है और वही सहचार पुष्ट समझा जा सकता है जिसमे व्यतिरेक द्वारा व्यभिचार की शंका न्यूनातिन्यून हो गई हो। अँगरेजी पद्धति के अनुमान मे अन्वय और व्यतिरेक रीतियो को विस्तार से बत-लाया है। उस पद्धति मे निरीक्षण के अतिरिक्त प्रयोग भी काम आता है; अर्थात् भाव और अभाव के लिये प्राकृतिक घटना पर

निर्भर न रहकर उनको कृत्रिम रीति से भी उत्पन्न कर लेते हैं। किन्तु मिल की पद्धतियों और न्याय के अन्वय व्यतिरेक में सिद्धांत से कोई अन्तर नहीं है। केवल भूयोदर्शन कारण नहीं है, क्योंकि कभी कभी एक बार के दर्शन से भी सहचार स्थापित हो जाता है, यदि वहाँ पर व्यभिचार की शंका न हो तो। किंतु व्यभिचार की शंका को दूर करने के लिये भूयोदर्शन की उपयोगिता है। जितनी बार सहचार का भूयोदर्शन होगा, व्यभिचार की शंका उतनी ही कम हो जायगी जहाँ पर भूयोदर्शन से भी शंका नहीं निवृत्त होती, वहाँ पर तर्क का प्रयोग करना पड़ता है। वह तर्क इस प्रकार होगा—निश्चित व्याप्ति में दोष मानकर जो बाधकता प्राप्त होती है, उसी के आधार पर शंका की निवृत्ति की जाती है। इस तर्क का यह प्रकार है—

प्रश्न—क्या धूआँ बिना अग्नि के रह सकता है?

उत्तर—यदि धूआँ अग्नि के बिना रह सकता तो वह उसका कार्य्य न होता; क्योंकि कारण के न रहते हुए कार्य्य नहीं हो सकता।

पुनः प्रश्न—क्या धूआँ अग्नि का कार्य्य है?

उत्तर—यदि धूआँ अग्नि से उत्पन्न नहीं होता है तो निरग्नि से होगा; किंतु ऐसा असंभव है, अतः वह कार्य्य नहीं है।

संशय—संभव है कि धूआँ अग्नि से उत्पन्न न हुआ हो और बिना किसी कारण के ही उत्पन्न हो गया हो। ऐसा

संशय करना उचित नहीं है; क्योंकि जो ऐसा संशय करता है, वह संसार मे नहीं रह सकता। जो मनुष्य संसार मे रहता है, उसको अवश्य यह मानना पड़ेगा कि सब चीज़ों का कारण होता है, और कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बिना कारण के उत्पन्न हो जाय। कारण से कार्य्य की उत्पत्ति होगी, इसी विश्वास पर हम सब कार्य्य चलाते हैं। यदि कार्य्य कारण सिद्धांत मे विश्वास न करें तो दुनिया का काम न चले। हम दूध को आग पर इसलिये रखते हैं कि वह गरम हो जायगा। हम पानी से सिर धोते हैं कि सर ठंडा हो जायगा। रोटी को आग पर रखते हैं कि वह पक जायगी। तर्क द्वारा यह बात दिखला दी गई कि यदि धूआँ बिना अग्नि के रहेगा तो हमको किसी वस्तु के बिना कारण के उत्पन्न होने की असंभव स्थिति मे प्राप्त होना पड़ेगा, इसलिये धूआँ बिना अग्नि के नहीं होता। यहाँ पर आकर तर्क का विराम हो जाता है। तर्क तभी तक करना चाहिए जब तक शंका की निवृत्ति न हो। शंका की अवधि तब तक है जब तक वह व्याघात (प्रत्यक्ष विरोध) को न पहुँच जाय। उदयनाचार्य्य ने अपनी कुसुमाञ्जलि मे कहा है—'व्याघातावधिराशंका तर्कः शंकावधिः स्मृतः"। अर्थात् शंका व्याघात पर्य्यंत की जाती है और तर्क शंका पर्य्यंत किया जाता है। हमने शंका की थी कि धूम वह्नि के साथ हमेशा रहता है या नहीं। इस शंका करने पर हमको व्याघात में आना पड़ता है और वहीं शंका की

निवृत्ति हो जाती है और उसी के साथ तर्क विराम को प्राप्त होता है।

जिस प्रकार अँगरेजी अनुमान मे एक कल्पना निगमन निकालकर उसको देखते हैं कि वह अनुभव सिद्ध है या नहीं, उसी प्रकार शंका होने पर व्याप्ति के विरुद्ध कल्पना करने से जो निगमन निकलता है, उसकी अनुभव-प्रतिकूलता बताई जाती है और इससे व्याप्ति के प्रतिकूल कल्पना करने की भूल बतलाई जाती है। यह एक प्रकार की व्यवहित सिद्धि (Indirect proof) है। इसके अतिरिक्त व्याप्ति की पुष्टि सीधी रीति से सफल प्रवृत्ति द्वारा हो सकती है। सफल प्रवृत्ति समस्त प्रमा-ज्ञान की कसौटी है (इदं ज्ञानं प्रमा संवादि प्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथाऽप्रमा), इसलिये यह व्याप्ति की भी कसौटी है। व्याप्ति के संबंध मे ऊपर का सा अनुमान करना पड़ेगा। जहाँ व्याप्ति के आधार पर सफल प्रवृत्ति न हो, वहाँ व्यभि-चार समझना चाहिए। सहचार द्वारा व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है और व्यतिरेक, तर्क तथा सफल प्रवृत्ति द्वारा उसकी पुष्टि और निश्चय हो जाता है। जो लोग ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य मानते हैं, उनके लिये यहाँ शंका की उत्पत्ति और उसकी निवृत्ति के विचार का अवसर नहीं आता। अतः ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य मानना ठीक नहीं। यदि ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य माना जाय तो संशय के लिये कोई स्थान ही न

आहर्च्य आरोप

रहे। अब प्रश्न यह है सहचार द्वारा जो व्याप्ति ज्ञान होता है, वह किस प्रकार होता है। सहचार को तो हम एक अग्नि-विशेष से देखते हैं, और यदि यह सहचार बार बार दुहराया भी जाय तो उन विशेष विशेष उदाहरणों के विषयों में ही कह सकेंगे जिनको हमने देखा है। सर्व देश और काल के धूमो और अग्नि के सहचार के विषय मे कुछ न कह सकेंगे। इस प्रकार के सर्व-देश-काल-व्यापी सहचार का ज्ञान धूम विशेषो मे जो अनुगत धूमत्व है और अग्नि विशेषों में जो अग्नित्व है, उसके ज्ञान से सार्वदेशिक और सार्वकालिक व्याप्ति प्राप्त होती है। यह सर्व देश और काल के धूमो का प्रत्यक्ष एक प्रकार के अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा होता है। धूम का प्रत्यक्ष संयोग रूप लौकिक सन्निकर्ष द्वारा होता है, धूमत्व का प्रत्यक्ष संयुक्त समवाय रूप लौकिक सन्निकर्ष द्वारा होता है; और धूमत्व द्वारा सब धूमों का प्रत्यक्ष अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा होता है। इस प्रकार के अलौकिक व्यापार का नाम सामान्यलक्षण कहा है। सामान्यं (साधारण धर्म) लक्षणं विषयः यस्य सन्निकर्षस्य। यहाँ सन्निकर्ष का विशेषण सामान्य लक्षण है, इसलिये उक्त व्युत्पत्ति दिखलाई गई। किंतु सामान्यलक्षण नाम मे लक्षण शब्द का स्वरूप और ज्ञान दो अर्थ मानकर ज्ञायमान सामान्य वा सामान्य ज्ञान यथाक्रम से अलौकिक सन्निकर्ष विशेष माना गया है। वस्तुतः स्वरूपार्थ लेकर जो ज्ञायमान पक्ष प्रतीत

सामान्य लक्षण की व्याख्या

होता है, वह दूषित है और ज्ञान अर्थ मानकर सामान्य ज्ञान पक्ष निर्दिष्ट होने से न्याय सिद्धांत सम्मत है। 'ज्ञायमान' पक्ष मे दोष यह है—जैसे घटत्व रूप सामान्य से यावत् घटों का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही 'घटवत् भूतलं' इस ज्ञान मे घट रूप सामान्य से घटवान् यावत् भूतलों का प्रत्यक्ष होता है। ऐसा न हो सकेगा, इस कारण यह पक्ष अनुपपन्न है। उत्पत्ति न होने का कारण यह है—'ज्ञायमान' सामान्य सन्निकर्ष पक्ष मे जाना गया सामान्य संबंध होता है, यह अर्थ प्रतीत होता है और यह संबंध कारण है। तब जैसे नित्य सामान्य ज्ञायमान होने पर अभिमत काल में उपयोगी होता है, ऐसे अनित्य घटादि सामान्य (विशेषण) विनाशी होने से अनियत स्थिति के कारण कार्य्य काल मे अनुपस्थित रहना ही प्रायः संभव है, विनष्ट हो जाने से। सुतरां सामान्य ज्ञान पक्ष मे यह दोष नहीं आता; क्योंकि विनष्ट पदार्थ का ज्ञान होने मे कोई बाधा नहीं हो सकती।

यदि यह सामान्य लक्षण सन्निकर्ष न माना जाय तो व्याप्ति ग्रहण दुर्घट हो जाय। व्यक्तियों की समता के आधार पर अनुमान नही होता, वरन् व्यक्तियों मे जो अनुगत सामान्य है, उसके द्वारा अनुमान होता है। इस व्याप्ति मे उन्हीं सामान्यो का संबंध देखा जाता है और उन सामान्यों द्वारा उस प्रकार के सब व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार के सन्निकर्ष को अलौकिक कहते हैं। यहाँ पर अलौकिक

का अर्थ असाधारण ही समझना चाहिए। इस प्रकार का प्रत्यक्ष सभी श्रेणी के मनुष्यों को हो जाता है। इसमें थोड़ी सावधानी अवश्य दरकार है; परंतु इसके लिये किसी दैवी शक्ति की आवश्यकता नहीं है। अलौकिक मे तीन प्रकार के सन्निकर्ष आ जाते हैं—एक सामान्य लक्षण, दूसरा ज्ञान लक्षण और तीसरा योगज।

"अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणा, ज्ञानलक्षणा योगजस्तथा॥"

सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज मे से पहले दो प्रकार के सन्निकर्ष से साधारण आदमियों को भी प्रत्यक्ष हो जाता है और तीसरे प्रकार का सन्निकर्ष योगियों के संबंध में होता है। एक-सम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं (Association) के नियमानुसार चंदन को देखकर उसकी सुगन्धि का प्रत्यक्ष ज्ञान लक्षणात्मक सन्निकर्ष का फल है। साधारण प्रत्यक्ष से भिन्न होने के कारण इसको अलौकिक कहा है। इसमें इतनी अलौकिकता अवश्य है कि प्रस्तुत प्रत्यक्ष से ऊँचे जाकर दृष्टि कुछ व्यापक हो जाती है। व्याप्तिज्ञान के विषय में कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं दी जा सकती कि व्यक्तिगत उदाहरणों से हम व्यापक सिद्धांत तक किस प्रकार पहुँच सकते हैं। इसकी व्याख्या मे जो कठिनाइयाँ होती हैं, उनका वर्णन हम अँगरेजी रीति के आगमनात्मक तर्क (Induction) के सम्बन्ध में

अलौकिक सन्निकर्ष

विवेचना करते हुए बतला चुके हैं। सामान्य लक्षण सन्निकर्ष के विषय में यह आपत्ति उठाई गई है कि यदि हमको सर्व देश और सर्व काल के घट, पट, धूम, अग्नि आदि का प्रत्यक्ष हो जाता है तो हम सर्वज्ञ क्यों नहीं हो जाते? इस शंका की निवृत्ति की गई है कि वास्तव मे हमें घट, पटादि के सामान्य गुणो का ज्ञान होता है जो सब घटों मे वर्तमान हैं; किंतु हमको घट विशेषों या पट विशेषों के विशेष गुणों का ज्ञान नहीं होता। इसमें हमारी अल्पज्ञता है।

सामान्य लक्षणात्मक सन्निकर्ष द्वारा प्राप्त व्यापक सहचार के ज्ञान के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसके साथ यह ध्यान रखना चाहिए कि इसमे भ्रांति के वश भूल हो जाने की संभावना रहती है। इसलिये इसमे संदेह के लिये स्थान रहता है और उस संदेह का निराकरण तर्क द्वारा करना पड़ता है। न्याय ग्रंथों मे तो यह कहा गया है कि यदि सामान्य लक्षणात्मक सन्निकर्ष न हो तो व्यभिचार का संदेह ही न हो। कारण यह है कि जब व्यापक व्याप्ति ही नहीं, तब व्यभिचार के लिये कहाँ स्थान रहेगा। जो घोड़े पर चढ़ता है, वही गिरता है। जो घोड़े पर चढ़ेगा ही नहीं, वह क्या गिरेगा।

सारांश यह है कि व्याप्ति बनाना मनुष्य में स्वाभाविक है, लेकिन सब व्याप्तियाँ ठीक नहीं होतीं। असावधानी से भूल हो जाने की सम्भावना रहती है। इस भूल की संभावना

को बार बार के सहचार द्वारा शोध लेना चाहिए। व्यतिरेक व्याप्ति द्वारा व्यभिचार की संभावना दूर कर लेनी चाहिए। तर्क द्वारा भी कार्य्य कारणादि संबंध देख लेना आवश्यक है। और फिर सब को अनुभव की सफल प्रवृत्ति रूपी कसौटी पर जॉच लेना चाहिए। यदि व्याप्ति मे भूल नही है तो हमारे अनुमान में भूल न होगी। लोग अनवधानता के कारण व्याप्ति-ग्रहण में व्यभिचार के उदाहरणो को भूल जाते हैं और इस कारण अनुमान दूषित हो जाते हैं।

अनुमान के संबंध में मतभेद

चार्वाकों ने केवल प्रत्यक्ष को ही माना है, अनुमान को नहीं। बौद्धों ने अनुमान को माना है। उनके मत से

बौद्धों का मत

हेतु और साध्य के केवल दो संबंध हो सकते हैं। एक कार्य कारण संबंध और दूसरा तादात्म्य संबंध; और यही अनुमान का आधार है। कार्य्य कारण संबंध को बौद्ध ग्रंथों में तदुत्पत्ति संबंध कहा है। धूम की उत्पत्ति अग्नि से है। आग और धूएॅ का कार्य्य कारण संबंध है, इसलिये धूएॅ से अग्नि का अनुमान हो सकता है। देवदारु वृक्ष है। यहॉ पर देवदारु और वृक्ष का तादात्म्य संबंध है। यहॉ पर यह अनुमान तादात्म्य के आधार पर है कि अमुक पदार्थ वृक्ष है, देवदारु होने के कारण। यद्यपि न्याय ने भी इन संबंधों को माना है, तथापि न्याय के मत से केवल इन्हीं संबंधों को अनुमान का आधार मान लेना

भूल है। न्याय ने अनुमान का आधार व्याप्ति में माना है। व्याप्ति का आधार अन्वय और व्यतिरेक में है। धूम से अग्नि का अनुमान इस कारण नहीं होता कि धूम की उत्पत्ति अग्नि से है, वरन् इस कारण कि जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि अवश्य ही वर्तमान होगी। बौद्धों के मत से खाली सहचार या सहचार के अभाव के नियम से कुछ नहीं होता, जब तक कि कार्य कारण या स्वभाव संबंध न हो। "कार्य्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात्। अविनाभाव नियमो दर्शनान्न न दर्शनात्"। इसके विषय मे वाचस्पति मिश्र ने यह आपत्ति उठाई है कि कारणता का निश्चय नहीं हो सकता कि धूम अग्नि से ही उत्पन्न होता है अथवा वीच मे कोई भूत आकर धूम को उत्पन्न कर देता है। ऐसे भूत अथवा अन्य कारणों के अभाव का जब तक पूरा पूरा निश्चय न हो जाय, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि धूम की उत्पत्ति अग्नि से ही हुई। यदि कारणता मान भी ली जाय तो कारणता से केवल पूर्ववर्तिता सिद्ध हो सकती है। अग्नि धूम का कारण है, इससे धूम के देखने पर यही सिद्ध हो सकता है कि किसी काल मे अग्नि वहाँ रही होगी। इससे वर्तमान काल मे अग्नि की उपस्थिति सिद्ध नहीं हो सकती। कार्य कारणता सिद्ध करने मे भी दर्शन और अदर्शन की आवश्यकता पड़ेगी; और जब तक कार्य्य कारण का अविनाभाव न सिद्ध हो जाय, तब तक कार्य्य कारण संबंध भी नहीं स्थापित

बौद्ध मत का खंडन

होता। बौद्धों ने कार्य्य कारण संबंध स्थापित करने के लिये पञ्चकारणी मानी है। वह इस प्रकार है—(१) कारण और कार्य्य दोनों की अनुपलब्धि, (२) कारण की उपलब्धि, (३) उसी के पश्चात् कार्य्य की उपलब्धि, (४) कारण की अनुपलब्धि और (५) कार्य्य की अनुपलब्धि। यही अन्वय व्यतिरेक भी है। इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे स्थल हैं जिनमें न तो कार्य्य कारण संबंध ही है और न तादात्म्य संबंध ही है; किंतु वहाँ पर अनुमान हो सकता है। जैसे जितने सींगवाले जानवर हैं, वे जुगाली करते हैं। हिरन सींगवाला जानवर है, अतः वह जुगाली करता है। तादात्म्य के विषय में वाचस्पति मिश्र का कहना है कि यदि वास्तविक तादात्म्य है तो अनुमान की कोई ज़रूरत नहीं, और यदि वास्तविक नहीं तो तादात्म्य नहीं है। यह आपत्ति उठाना ठीक नहीं है, क्योंकि तादात्म्य का अर्थ ही भेद में अभेद है। इस संबंध में यह कह देना उचित है कि यदि दो ही संबंध माने जायँ तो अभावात्मक निगमन निकालना कठिन हो जायगा। न्याय का मत यह है कि हमको व्यभिचार-रहित सहचार का निश्चय होना चाहिए। इससे यह मतलब नहीं कि साथ रहनेवाले पदार्थों में क्या संबंध है। उन्होंने अविनाभाव के संबंध को ही मुख्य माना है; और इसमें सब संबंध आ जाते हैं। सहचार से अविनाभाव अच्छा शब्द है। अविनाभाव में सहचार और आनुपूर्वी दोनों ही आ जाते हैं। कणाद के अनुसार लैंगिक ज्ञान मे पाँच

बातें आती हैं—यह इसका कार्य्य है, यह इसका कारण है, यह इसका संयोगी है, यह विरोधी है, यह समवायी है*। जैनों ने पाँच संबंध माने हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) व्याप्य व्यापक, (२) कार्य्य कारण, (३) पूर्वाचार उत्तराचार, (४) सहचार और (५) स्वभाव। संबंध चाहे जितने माने जायँ, अनुमान का मूल आधार अविनाभाव में है। उन्हीं संबंधों से अनुमान निकाला जा सकता है जो नियत हैं। अनियत संबंध चाहे जितने घनिष्ठ हों, उनसे कोई अनुमान नहीं निकाला जा सकता।

मीमांसकों का मत

कुमारिल ने अधिकरण पर विशेष जोर दिया है। उनके मत से केवल धूम और अग्नि के सहचार संबंध से काम नहीं चलता, वरन् यह कि वे एक तीसरी चीज में साथ साथ पाए जाते हैं। निगमन मे भी केवल साध्य का अनुमान नहीं होता, वरन् साध्ययुक्त पक्ष या अधिकरण का अनुमान होता है। धूम से अग्नि का अनुमान करना हमारे ज्ञान की वृद्धि नहीं करता, क्योंकि अग्नि का ज्ञान धूम के ज्ञान के साथ ही लगा हुआ है। पर्वत में धूम देखकर अग्निमान् पर्वत का अनुमान होता है। दिङ्नाग का भी ऐसा ही मत है। कुमारिल के मत से व्यभिचार-रहित अन्वय व्याप्ति ही अनुमान कराने के लिये पर्य्याप्त है, व्यतिरेक व्याप्ति की आवश्यकता नहीं। बौद्धों ने व्यतिरेक

* अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति

व्याप्ति को प्रधानता दी है। इसका कुमारिल ने विरोध किया है। वास्तव में व्यतिरेक व्याप्ति से जो निश्चय होता है, वह अन्वय व्याप्ति से नहीं होता। प्रभाकर ने व्याप्ति एवं निगमन के संबंध में अधिकरण पर इतना जोर नहीं दिया है। उनका कहना है कि धूम और अग्नि का संबंध निश्चित होना चाहिए, इससे मतलब नहीं कि वह संबंध किसमें और कब देखा गया। उनके मत से निगमन मे भी यह आवश्यक नहीं कि किसी नए ज्ञान की प्राप्ति हो। कुमारिल के मत से अनुमान में नवीन ज्ञान होना आवश्यक है।

चौथा अध्याय

उपमान

सूत्रकार ने उपमान की इस प्रकार परिभाषा दी है—
"प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्"। अर्थात् प्रसिद्ध पदार्थ के साधर्म्य से अथवा प्रसिद्ध साधर्म्य से (प्रसिद्ध साधर्म्यं यस्य प्रसिद्धेन वा साधर्म्यस्य) साध्य का साधन उपमान है। जैसे किसी मनुष्य को यह नहीं मालूम कि गवय (नील गाय) कैसी होती है। फिर किसी ने उसको बतला दिया कि जैसी गाय होती है, वैसी ही गवय (नील गाय) भी होती है। जब वह जंगल मे नील गाय देखता है तो बतलाए हुए सादृश्य का स्मरण करके वह उसको पहचान लेता है कि अमुक जानवर ही गवय है। यही उपमान है। माषपर्णी कैसी होती है? जिसके पत्ते उड़द के समान हो। इस ज्ञान के आधार से माषपर्णी पहचान ली जाती है।

उपमान की व्याख्या

उपमान से व्यवहार में बहुत लाभ होता है। वस्तु की व्याख्या करने मे भी लाभ होता है। किसी वस्तु का शाब्दिक वर्णन करके उसका ज्ञान कराना बहुत कठिन होता है। जैसे कोई पपीते (अंड खरबूजे) के पेड़ का ज्ञान कराना चाहे

तो कठिन होगा; और वस्तु के देख लेने पर भी यह भ्रम दूर न होगा कि वास्तव में यह वही चीज है या और कोई। लेकिन जहाँ कोई यह कह दे कि पपीते के पत्ते अँडौए के पत्तों की भाँति होते हैं, तो इस पत्ते के सादृश्य से देखनेवाला मनुष्य पपीते को तुरन्त पहचान लेगा। उपमान यथार्थ ज्ञान कराने में सहायक होने के कारण प्रमाण है। किंतु यह कहना पड़ता है कि इसमें थोड़े बहुत संदेह की अवश्य गुंजाइश होती है। यदि उसी प्रमाण का सादृश्य दो या तीन पदार्थों मे पाया जाय तो भ्रम हो जायगा कि अभीष्ट वस्तु कौन है।

सादृश्य की व्याख्या

इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जिस बात में सादृश्य बतलाया जाय, उसी बात का सादृश्य देखा जाय। पपीते और अंड खरबूजे मे पत्तों का सादृश्य है, फल का नहीं। सादृश्य का उचित स्थान में न प्रयोग करने से बड़ी भूल होने की संभावना रहती है। टेढ़ी खीर की लोकोक्ति इस बात को प्रमाणित करती है। एक अंधे को खीर खाने का निमंत्रण मिला। उस बेचारे ने खीर कभी नहीं खाई थी; इसलिये उसने निमंत्रण देनेवाले से पूछा कि खीर कैसी होती है? उत्तर मिला—सफेद। फिर अंधे ने पूछा कि सफेद कैसा होता है? उत्तर मिला—जैसे बगुला। फिर उसने पूछा कि भाई बगुला कैसा होता है? न्योता देनेवाले ने कुछ उत्तर न देकर अपने हाथ से बगुले की सी चोच बना दी और कहा कि टटोल

लो। अंधे ने टटोलकर कहा कि भाई यह तो बड़ी टेढ़ी खीर है; इसे मैं न खाऊँगा। यदि उपमान का ऐसा दुरुपयोग न हो तो उपमान हमारी ज्ञान-वृद्धि में बहुत सहायक होता है। किंतु ज्ञान-वृद्धि संज्ञा संज्ञि संबंध का ज्ञान कराने मे ही है। "संज्ञा-संज्ञिसंबंधज्ञानमुपमितिः"। यह तो उपमान का फल हुआ। अब प्रश्न यह है कि इसमें करण और व्यापार क्या क्या है? सो नीचे की कारिका द्वारा बतलाया जाता है।

"सादृश्यधीगवादीनां या स्यात्सा करणं मतम्।
वाक्यार्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते ॥
गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमाफलम्।"

गवय में गौ का सादृश्य देखना उपमिति मे करण है। और यह पूर्व मे बतलाए हुए ज्ञान (गाय के सदृश गवय होती है) का स्मरण व्यापार है। गवय पद की शक्ति का ज्ञान उसका फल है।

उपमान में करण और व्यापार

इस उपमान और अँगरेजी तर्क के उपमान (Anology)—जिसका कि आगमन के संबंध में वर्णन किया गया है—मे भेद है। वह उपमान अनुमान का ही अंश है। उसमे कुछ बातों का सादृश्य देखकर और बातों के सादृश्य का अनुमान किया जाता है। इसमे किसी साधर्म्य के आधार पर किसी संज्ञा के संज्ञि की पहचान करा दी जाती है। उपमान केवल साधर्म्य के आधार पर ही नहीं होता, किंतु वैधर्म्य के आधार पर भी होता है। किसी किसी आचार्य

ने तीन प्रकार का उपमान माना है—(१) सादृश्य विशिष्ट पिंडज्ञान, (२) वैधर्म्य विशिष्ट पिंडज्ञान और (३) असाधारण धर्मविशिष्ट पिंडज्ञान। (१) का उदाहरण गौ के आधार पर गवय का ज्ञान कराना; (२) का उदाहरण उठी हुई पीठ से उष्ट्र का ज्ञान कराना और (३) का उदाहरण गैंडे की नाक के ऊपर एक शृंग बतलाकर ज्ञान कराना।

उपमान के संबंध में दो प्रकार की शंकाएँ उठाई जाती हैं। पहली तो यह कि उपमान संभव ही नहीं; और दूसरी यह कि यह स्वतंत्र प्रमाण नहीं है।

उपमान के संबंध में शंका

पहली शंका इस प्रकार से है—"अत्यंतप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः"। सादृश्य तीन प्रकार का होता है—(१) अत्यंत (सब बातों में); जैसे गौ गौ की भाँति होती है। (२) प्रायः (कुछ बातों में); जैसे भैंस गाय के समान होती है, और (३) एक-देश (किसी एक बात में); जैसे पहाड़ सरसों के समान भौतिक पदार्थ है। इन तीनों प्रकार के सादृश्यों से कोई काम नहीं निकलता। अत्यंत सादृश्य में किसी ज्ञान की वृद्धि नहीं हुई। प्रायः सादृश्य में ठीक ज्ञान नहीं होता। एक-देशी सादृश्य में भी ठीक तुलना न होने के कारण ठीक ज्ञान नहीं होता। ऐसा सादृश्य संसार के सभी पदार्थों में मिलता है।

इसका उत्तर यह है कि साधर्म्य में अत्यंत, प्रायः और एक-देशी का प्रश्न नहीं है, वरन् उसके प्रसिद्ध होने का है। यदि

किसी ऐसी बात मे सादृश्य बतलाया जाय जो कि दो या एक ही आदमी को मालूम हो तो वह उपमिति का कारण नहीं हो सकता। ऐसा प्रसिद्ध सादृश्य 'प्रायः' और कभी कभी 'एक-देशी' भी हुआ करता है। फिर इन सब प्रकार के सादृश्यों से उपमान की संभावना है। यद्यपि अत्यंत सादृश्य से ज्ञान की वृद्धि नहीं होती, तथापि कुछ स्थलों मे अत्यंत सादृश्य द्वारा उस पदार्थ का महत्त्व बतलाया गया है। उसमें यह व्यंजित किया जाता है कि उसके समान और कोई वस्तु या घटना नहीं है। जैसे 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव'। प्रायः सादृश्य कुछ अंशों का ही होता है और ऐसी अवस्था मे ज्ञान-वृद्धि होती है। जिसने भैंस नहीं देखी, उसको यह बतला देना कि भैंस गाय की सी होती है, भैंस के बारे मे बहुत कुछ ज्ञान करा देना है। उसको मालूम हो जाता है कि भैंस भी सींगवाली होती है और वह दूध देती है। एकदेशी सादृश्य भी, जब किसी एक ही बात का ज्ञान कराना हो, जैसे पहाड़ और सरसों भौतिक द्रव्य होने में समान हैं, उप-योगी ठहरता है।

उपमान के विषय में जो दूसरी आपत्ति उठाई जाती है, वह यह है कि अनुमान मे जाने हुए पदार्थ से गैर जाने हुए पदार्थ का ज्ञान होता है। ऐसा ही अनुमान मे भी होता है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि अनुमान के साध्य का देखे विना ज्ञान हो जाता है; पर उपमान के साध्य का देखे विना

ज्ञान नहीं होता । जब कोई गवय को देख लेता है, तभी यह ज्ञान होता है कि अमुक जानवर गवय है। इस प्रकार उपमान का कार्य्य संज्ञा संज्ञि संबंध स्थापित कराना बतलाया जाता है।

वैशेषिक सिद्धांत में उपमान को अनुमान के अंतर्गत रखा है। उनका कहना है कि गवय के जाननेवाले के वचन में विश्वास करके कि गवय गाय के सदृश होता है, एक व्याप्ति बना ली जाती है कि जो गाय के सदृश हो, वह गवय है. यह जानवर गाय के सदृश है, अतः यह गवय है।

वैशेपिक मत से उपमान को अनुमान के अंतर्गत करना

सांख्यवालों का कहना है कि इसमें शब्द और प्रत्यक्ष का योग है; इसको स्वतंत्र स्थान देने की आवश्यकता नहीं। वेदांती और मीमांसक इसको स्वतंत्र स्थान देते हैं। वस्तुतः उपमान में शब्द (ग्रामीण मनुष्य का वचन कि गवय गौ के सदृश होता है), स्मृति (इस बात का याद रखना), अनुमान और प्रत्यक्ष सब का काम पड़ता है। किंतु यह इन सबसे भिन्न है। इसमें संज्ञा संज्ञि संबंध स्थापित किया जाता है। साध्य प्रत्यक्ष होकर पक्ष बन जाता है, और तब उसका नामकरण किया जाता है; यही इसकी विशेषता है। वैसे तो अनुमान मे भी प्रत्यक्ष और स्मृति का काम पड़ता है, किंतु उसको भी स्वतंत्र स्थान दिया जाता है।

पाँचवाँ अध्याय

शब्द प्रमाण

न्याय दर्शन में शब्द की इस प्रकार व्याख्या की गई है—'आप्तोपदेश. शब्दः'। आप्त का उपदेश शब्द है। फिर भाष्य में आप्त की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

शब्द प्रमाण की व्याख्या

"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्तत इत्याप्तः"। आप्त वह है जिसने सब धर्मों का अर्थात् सब बातों की असलियत का साक्षात् कर लिया हो और जो उस जाने हुए अर्थ को लोगों पर प्रकट करने की इच्छा से युक्त उपदेश करनेवाला हो; अर्थात् जिसने स्वयं सब बातों को अच्छी तरह से जान लिया हो और उनको वह लोगों को ठीक ठीक बताने की इच्छा से प्रवृत्त होकर उपदेश देता हो। इसका मतलब यह है कि आप्त की सभी बातें प्रमाण नहीं होतीं। वह यदि सोते में कुछ कह रहा हो या हँसी में कुछ कह रहा हो या उदाहरण के रूप में कुछ कह रहा हो, तो ऐसी बात प्रमाण न मानी जायगी। प्रमाण वही बात मानी जायगी जो लोगों को सत्य बात कहने की इच्छा से कही गई हो। ऐसा

बतलाया हुआ ज्ञान सुननेवाले के लिये परोक्ष अनुभव का साधक होता है; चाहे वह कहनेवालों के लिये परोक्ष हो चाहे प्रत्यक्ष। अनुमान भी परोक्ष ज्ञान का साधक होता है; लेकिन अनुमान लिंग परामर्श रूप ज्ञान के आधार पर होता है। आप्त पुरुष के कहे हुए वाक्य के अर्थ का ज्ञान शब्द प्रमाण का आधार है। शाब्दबोध के करणादि नीचे की कारिका मे बतलाए गए हैं—

शब्द प्रमाण के करणादि

"पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी॥"

पद का ज्ञान, न कि जाना हुआ पद मात्र (क्योकि बिना अर्थ जाने भी पद का उच्चारण मात्र मालूम हो सकता है) करण है। पद से पदार्थ का स्मरण व्यापार है। शाब्दबोध उसका फल है और शक्ति सहकारी कारण है।

शब्द प्रमाण दो प्रकार का माना गया है। "स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्"। एक दृष्टार्थ और दूसरा अदृष्टार्थ। दृष्टार्थ वह है जो देखी हुई अर्थात् प्रत्यक्ष से या जानने योग्य बातों के विषय मे हो; और जो प्रत्यक्ष से जानने योग्य बातों से संबंध न रखे, वह अदृष्टार्थ है। वार्तिक मे बतलाया गया है कि यह लक्षण सभी के आप्त वाक्यों में घटित हो जायगा। "ऋष्यार्य्यम्लेच्छानामेतत् समानं लक्षणमिति।" वेद या ऋषि के वाक्य को ही आप्त मानना उसका अर्थ संकुचित करना है। यदि

शब्द प्रमाण के दो प्रकार

कोई कहे कि आगरे का ताजमहल संगमरमर का बना है तो यह विषय प्रत्यक्ष की योग्यता रखता है; यह दृष्टार्थ कहा जायगा। यदि कोई परमाणुओं का कोई सिद्धांत बतलावे तो यह अदृष्टार्थ होगा; क्योंकि परमाणु किसी ने देखे नहीं हैं; यह अनुमान का विषय है। इसी प्रकार यदि कोई स्वर्ग या नरक के विषय में कुछ कहे तो यह अदृष्टार्थ होगा। दृष्टार्थ मे साधारण लोगों का शब्द भी प्रमाण होता है और अदृष्टार्थ मे आप्त पुरुषों का ही। यदि किसी लौकिक अदृष्टार्थ मे किसी का प्रमाण माना जायगा तो वह युक्ति के आधार पर माना जायगा। किंतु अलौकिक अदृष्टार्थ मे यह निश्चय हो जाने पर कि यह आप्त वाक्य है, मान लिया जाता है। अब यह शंका उठाई जाती है कि दृष्टार्थ प्रत्यक्ष की योग्यता रखने के कारण निश्चय हो सकता है। यदि किसी ने कहा कि आगरे मे ताजमहल संगमरमर का बना हुआ है तो वह वहाँ जाकर देखा जा सकता है। किंतु "स्वर्गकामो यजेत" मे यह नहीं देखा जा सकता कि यज्ञ का करनेवाला स्वर्ग को गया या नरक को। महात्मा कबीरदासजी ने ठीक ही कहा है—"उतते कोइ न बाहुरा, जाते बूझूँ धाय। इतते सबही जात हैं भार लदाय लदाय॥" इसका उत्तर यह दिया जाता है कि कुछ आप्त वाक्य ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष से संबंध है। जैसे वृष्टिकामो यजेत, पुत्रकामो यजेत। और जब वह ठीक निकलते हैं, तब यह अनुमान किया जाता है कि बाकी और भी ठीक होंगे। आजकल लोग इस युक्ति

को न मानेंगे। पहले तो इसी में संदेह है कि यदि कभी यज्ञ करने से वृष्टि हो भी गई तो यह निश्चय नहीं होता कि वह वृष्टि यज्ञ ही के कारण हुई या और किसी कारण से हुई। कभी कभी ऐसा भी होता है कि वृष्टि होनेवाली ही होती है और बीच मे यज्ञ हो गया तो यज्ञ ही वृष्टि का कारण मान लिया जाता है। फिर यह भी नहीं कि हमेशा यज्ञ सफल ही होते हैं। यद्यपि विफलता में बाधक कारण बतलाए जाते हैं, तथापि यह निश्चय नहीं होता कि इन बाधक कारणों ही की वजह से विफलता हुई। मतलब यह है कि यह बात वैज्ञानिक खोज मे नहीं आई और इसका आना भी कठिन है। इस प्रकार के निश्चय के प्रमाण में इन वाक्यों की मानी हुई सफलता के आधार पर अनुमान कर लेना युक्ति-सम्मत नही है। दूसरी बात यह है कि यदि यह सफलता ठीक भी हो तो भी यह अनुमान नहीं हो सकता कि यदि कुछ आप्त वाक्य सफल हुए तो शेष भी सफल हो जायँगे। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि शब्द प्रमाण बिल्कुल न माना जाय, परंतु यह कि उसकी युक्ति द्वारा परीक्षा कर लेनी चाहिए। जो बात हमारी परीक्षा का विषय न हो, उसके लिये हमको हठ न करना चाहिए और उसको युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिये खींचतान भी करना उचित नही। हमको स्पष्ट रूप से कह देना चाहिए कि यह हमारी परीक्षा का विषय नहीं; हमारा ऐसा विश्वास है।

झगड़ा तब होता है जब विज्ञान से बाहर के विषयों को वैज्ञानिक पद्धति पर सिद्ध किया जाता है। आजकल जिस प्रकार से शब्द प्रमाण माना जाता है, उसका वर्णन हम आगमन के संबंध में कर आए हैं। प्राचीन काल में वेदवाक्यों के संबंध में विफलता, पुनरुक्ति और परस्पर विरोध के आधार पर आपत्ति उठाई गई है। उनका वर्णन न्याय-सूत्र (२।१।५८ से ६१ तक) में आया है। न्याय ग्रंथों में शब्द-प्रमाण की व्याख्या करते हुए पद वाक्यों और उनकी शक्ति इत्यादि के विषय में अच्छी विवेचना की गई है और उनका तर्क शास्त्र के लिये विशेष महत्त्व है। इसलिये उन बातो का संक्षेप से उल्लेख कर देना आवश्यक है।

वाक्य और पद के संबंध में मीमांसकों का अवांतर भेद

तात्पर्य्यार्थ मानते हुए वाक्य और पद के संबंध में मीमांसकों के दो मत हैं। एक अभिहितान्वयवाद (अभिहितानां 'पदानां' अन्वयः इतिवदति सः) और दूसरा अन्विताभिधानवाद (अन्वितानां पदानाम् एव अभिधानं यत्र सः)। पहला मत भट्ट मीमांसकों का है और दूसरा मत प्रभाकर वा गुरुमत का है। पहले मत के अनुसार शब्द अपना अर्थ स्वतंत्र रूप से बतलाते हैं और वाक्य मे एक विशेष संबंध में आकर एक विशेष अर्थ देने लगते हैं। यह वाच्यार्थ और तात्पर्य्यार्थ दोनों ही मानते हैं। गुरुमत के अनुसार शब्दों का व्यक्तिगत कोई अर्थ नहीं होता। जो कुछ अर्थ होता

है, वह वाक्य के संबंध मे ही होता है। घोड़ा शब्द मात्र से कोई अर्थ नहीं निकलता, जब तक कि यह न कहा जाय कि घोड़ा सफेद है या घोड़ा सवारी की चीज है। इन वाक्यो से घोड़े का अर्थ मालूम होता है। खाली घोड़ा कह देने से कुछ ज्ञान नहीं होता कि घोड़ा सफेद है या काला है या खड़ा है या वैठा है। यह प्रश्न आजकल के तर्क में भी उठाया जाता है। एक मत तो यह है कि शब्दो के योग से वाक्य बनता है। शब्द ही विचार का छोटे से छोटा रूप है। दूसरा मत वाक्य को ही पूरे विचार का छोटे से छोटा रूप मानता है। और वैयाकरणों मे भी वाक्य स्फोट के माननेवाले वाक्य को ही प्रधानता देते हैं, शब्द को नहीं। न्याय के मत में, जो अभिहितान्वयवाद से मिलता है, दोनों ही मतों का समावेश हो जाता है। यह मानना कि शब्दों का कोई स्वतंत्र अर्थ ही नहीं है, ठीक नहीं है। यदि ऐसा होता तो गाय और घोड़े मे भेद ही न रहता। इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि खाली शब्दों से कुछ अर्थ बोध नहीं होता। उलटे सीधे शब्दों के जोड़ देने से कुछ अर्थ नहीं निकलता। अर्थवान् शब्दों को एक विशेष संबंध और क्रम में रखने पर उनका पूरा पूरा अर्थ प्रकट होता है। खाली एक शब्द कहने से अर्थ पूरा नहीं होता। उसके विषय मे कुछ आकांक्षा रहती है। वह आकांक्षा वाक्य मे ही पूरी होती है। कभी कभी एक शब्द से ही अर्थ बोध हो जाता है।

जैसे "आग" कहने से लोग समझ लेते हैं कि आग लगी है। साधारणतः शब्दों के क्रम विशेष में रक्खे जाने से अर्थ बोध होता है। किसी ऐसे सिलसिले में रक्खे हुए शब्दों के समूह को, जिनसे कि अर्थ बोध हो, वाक्य कहते हैं। अभिप्राय यह है कि शब्द का वाक्य से पृथक् कुछ अर्थ अवश्य होता है; लेकिन वाक्य में संबद्ध होकर वे पूरा पूरा अर्थ देते हैं। शब्द के स्वतंत्र अर्थ के विषय में यह प्रश्न उठाया गया था कि वह जाति, व्यक्ति वा आकार, किस का बोधक होता है। न्याय मत से यह तीनों का बोधक होता है। पहले भाग मे पदों का वर्णन करते हुए इस बात पर विचार हो चुका है।

आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा, तात्पर्य ज्ञान, पदों के इन चार संबंधों में रहने से वाक्य का अर्थ-बोध होता है। इनका अलग अलग वर्णन किया जाता है।

वाक्य का अर्थ-बोध

आसत्ति—"सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते"। पदों की परस्पर समीपता का नाम आसत्ति है। जिस पद का जिस पद के साथ अन्वय हो, वह उसके साथ ही रहे। जैसे यदि कहा जाय—देवदत्त ने क्रुद्ध पत्थर मारा। तो इस क्रुद्ध का अन्वय देवदत्त के साथ है न कि पत्थर के साथ। क्रुद्ध शब्द अपनी ठीक जगह पर नहीं है, इससे अर्थ-बोध न होगा। मीठा लोहा या सख्त दूध मे मीठा शब्द का अन्वय दूध के साथ है और सख्त का अन्वय लोहे के साथ। अगर यह पास

पास न होंगे तो शब्द-बोध न होगा। आसक्ति से सान्निध्य का भी अर्थ लिया जाता है। यदि कोई कहे कि आग लाओ, पर आग अब कहे और लाओ दो घंटे बाद कहे तो कोई अर्थ न होगा। अथवा कोई यह कहकर "मैं ऐसा बेवकूफ नहीं जैसे तुम" चुप हो जाय और कुछ देर बाद कहे कि "समझते हो" तो शायद लड़ाई हो जाय।

योग्यता—पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता एक पदार्थेऽपरपदार्थसंबंधो योग्यतेत्यर्थः। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से संबंध योग्यता कहलाता है। वह्निना सिञ्चति इसमें वह्नि और सेचन का संबंध न होने के कारण अर्थ-बोध नहीं होता। सेचन का जल ही से संबंध है। सेचन जल के साथ योग्यता रखता है न कि वह्नि के साथ साथ।

आकांक्षा—'यत्पदेन विना यस्याऽननुभावकता भवेत्'। जिस पद के बिना जिस पद में शाब्द-बोध कराने का सामर्थ्य न हो, उसकी आकांक्षा समझी जायगी। "देवदत्त खाना" केवल इतना कहने से इस बात के पूरा करने की आकांक्षा या चाह रहती है कि देवदत्त खाना पकाता है या खाता है। खाता है या पकाता है, इसकी आकांक्षा है।

तात्पर्य—वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्। वक्ता ने जिस इच्छा से जो बात कही हो, वह तात्पर्य है। "सैंधवमानय" से "घोड़ा ला" और "सेंधा नमक ला" दोनों बातों का बोध होता है। श्रोता को वक्ता की इच्छा समझकर अर्थ लगाना

पड़ता है। यह इच्छा अनुमान से जानी जाती है। यदि चौके में बैठा हुआ कोई "सैंधवमानय" कहे तो नमक का अर्थ समझा जायगा।

वाक्यों के प्रकार

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—एक लौकिक और दूसरे वैदिक। वेदवाक्य तीन प्रकार के माने गए हैं—(१) विधि वाक्य, (२) अर्थवाद वाक्य और (३) अनुवाद वाक्य।

(१) विधिर्विधायकः। जो वाक्य विधि या आज्ञा देनेवाला होता है, उसे विधि कहते हैं। जैसे सुबह और शाम को सध्या करनी चाहिए। विधि-वाक्य में केवल हुक्म रहता है। उसके मानने न मानने के कारण नहीं रहते।

(२) स्तुतिर्निंदापरकृतिःपुराकल्प इत्यर्थवादः। विधि-वाक्य में कहे हुए उपदेश के पालन करने या न करने से जो फल वा हानि होती है, वह अर्थवाद बतलाते हैं। यह चार प्रकार के होते हैं—स्तुति, निंदा, परकृति और पुराकल्प विधिवाक्य के पालन करने से जो फल होता है, उसको बतलाकर विधिवाक्य की तारीफ करनेवाले वाक्य स्तुति कहलाते हैं। विधि का अर्थ बतलाना ही अर्थवाद का उद्देश्य है। जैसे देवताओं ने यह यज्ञ करके सबको जीता। इससे सब फल प्राप्त होते हैं।

विधि के प्रतिकूल बात करने से जो हानि होती है, उसको बतलाकर ऐसे कार्य की बुराई करने को निंदा कहते हैं। यज्ञों मे ज्योतिष्टोम पहला यज्ञ है। इसको न करके यदि और कोई

यज्ञ किया जाय तो उससे क्या क्या हानियाँ होती हैं, यह बतलाना निंदा है। परकृति का अर्थ दूसरे का किया हुआ है। विधिवाक्य में जो बात बतलाई गई है, उसको अगर कोई दूसरे लोग दूसरी तरह करते आए हों तो उस दूसरी रीति को बतलानेवाले वाक्य परकृति वाक्य कहलाते हैं। जहाँ पर यथार्थ और अयथार्थविधि बतलाना हो, वहीं पर ऐसे वाक्य व्यवहार में आते हैं। पुराकल्प का अर्थ है—पहले किया हुआ। यदि कोई विधिवाक्य में बतलाई हुई बात प्राचीन काल में हुई बतलाकर पुष्ट की गई हो तो वह पुराकल्प वाक्य कहलाता है।

विधिर्विहितस्य अनुवचनमनुवादः। विधि वाक्य द्वारा बतलाई हुई बात का दोहराना अनुवाद कहलाता है। कही हुई बात को दुहराने में पुनरुक्ति होती है; किंतु जहाँ पर कोई बात जोर देने के अर्थ अथवा और किसी कारण से दुहरा दी जाय, वहाँ पर अनुवाद समझा जायगा। अनुवाद भी दो प्रकार का होता है। एक शब्दानुवाद और दूसरा अर्थानुवाद। उन्हीं शब्दों को दोहराना शब्दानुवाद है और उस अर्थ के रखनेवाले शब्दों को दोहराना अर्थानुवाद है। अनुवाद और पुनरुक्ति में यही भेद है कि पुनरुक्ति बिना मतलब के दोहराने को कहते हैं और अनुवाद किसी मतलब से दोहराने को कहते हैं।

लौकिक वाक्यों में भी ऐसा भेद किया जाता है; जैसे—"विद्या पढ़ो (यह विधि वाक्य है)। विद्या पढ़ने से बड़ा लाभ होता है। विद्वान् लोग ही जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं (यह

अर्थवाद हुआ)। पढ़ो भाई, पढ़ो। किताब की ओर देखो; ध्यान लगाओ (यह अर्थानुवाद हुआ)।"

वैयाकरणों और वेदांतियों ने सब पदों का अंतिम अर्थ सत्ता माना है; मीमांसकों ने क्रिया माना है। वेदांतियों के मत में एक सत्ता ही को सत माना है। सारा संसार उसी एक सत्ता का विवर्त है; इसलिये सब शब्द उसी सत्ता के द्योतक हैं। मीमांसक लोग कर्म को प्रधानता देते हैं, इसलिये उनके मत से सब शब्द कर्म के द्योतक माने जाते हैं। पद के अर्थ के संबंध मे एक और प्रश्न है। वह यह है कि पद का अर्थ व्यक्ति है, अथवा जाति वा आकृति? न्याय ने तीनों ही बातें मानी हैं। जिस दृष्टि और जिस अभिप्राय से जो बात कही जाय, वैसा ही अर्थ होता है। गाय सींगवाली होती है, यहाँ पर गाय का अर्थ गौ जाति मे लगाया जायगा। गौ को दुह लो, यहाँ पर गौ का अर्थ कजरी आदि गौ व्यक्ति का है। नमक की गौ बनाओ, यहाँ पर गौ का अर्थ गौ की आकृति लगाया जायगा।

पद का अर्थ

नैयायिक लोग पद की शक्ति पद मे नहीं मानते। इस शब्द से यह अर्थ समझा जाय, इस ईश्वर-इच्छा को शक्ति कहते हैं। "शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य संबंधः सा चास्माच्छब्दादयमर्थो बोधव्य इतीश्वरेच्छा रूपा"। नवीन नैयायिक ईश्वरेच्छा के स्थान मे इच्छा को, जिसमें ईश्वरेच्छा और पुरुषेच्छा दोनों शामिल हैं,

पद और अर्थ का संबंध

पद की शक्ति का कारण मानते हैं। जो शब्द आधुनिक हैं और मनुष्य की इच्छा से बने हैं, उन्हें पारिभाषिक कहते हैं—

"जो पद है जा अर्थ को, है सुनते ही प्रतीति।
ऐसी इच्छा ईश की, शक्ति न्याय की रीति॥"

विचार-सागर।

व्याकरण—पाणिनि दर्शन के मत से शक्ति की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

'इंद्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थै शब्दानां संबंधो योग्यता तथा'॥

भूषण।

चक्षुरादि इंद्रियों की अपने अपने रूपादि विषय मे जैसी ग्राहकता अर्थात् ज्ञान-जनकता रूप योग्यता है, वैसी ही अनादि काल से अर्थों के साथ शब्दों का संबंध अर्थ-विषयक ज्ञानजनकता रूपा योग्यता या शक्ति है। इस योग्यता को वैयाकरण लोग बोध्य बोधक भाव से सूचित करते हैं।

'योग्यता जो अर्थ की, पद माँहि शक्ति सुदेखि।
यों कहत वैयाकरण भूषण, कारिका हरि लेख॥'

विचार-सागर।

वैयाकरणों के मत से शब्द और अर्थ एक दूसरे के सहायक हैं। यदि घर न हो तो उसको न तो प्रकाश और न इंद्रियाँ दिखा सकती हैं। वैयाकरण लोग शब्द और अर्थ का संबंध प्रकाशक और प्रकाश्य का मानते हैं।

मीमांसकों (भट्टमत) के मत से शब्द और अर्थ का तादात्म्य संबंध माना है। तादात्म्य का अर्थ भेदाभेद का है। तुलसीदासजी ने जो कहा है—"गिरा अर्थ जल वीचि सम देखियत भिन्न न भिन्न" वह ऐसा ही तादात्म्य बतलाता है।

मीमांसक और वैयाकरण दोनों के मत से शब्द और अर्थ का संबंध नित्य है। मीमांसक लोग केवल संस्कृत शब्दों मे ही योग्यता मानते हैं; वैयाकरण लोग असंस्कृत शब्दो मे भी योग्यता अर्थात् अर्थ बोधकता मानते हैं। भट्ट मतवाले शब्दो मे स्वतंत्र रूप से शक्ति मानते हैं। प्रभाकर मतवाले वाक्य के प्रकृत शब्दों मे ही शक्ति मानते हैं, वाक्य से स्वतंत्र नहीं।

स्फोटवाद वैयाकरणों का है। इन लोगों का कहना है कि 'पुस्तक' शब्द के अक्षरों से अर्थबोध नहीं होता। अर्थबोध के लिये स्फोट नामक एक अनादि स्वतंत्र पदार्थ है जो अक्षरों का उच्चारण होने पर जागृत होता है और अर्थबोध कराता है। पुस्तक के प, उ, स, त, अ, क, अ, इन अक्षरों के योग से अर्थबोध नहीं हो सकता, क्योंकि उच्चारण एक साथ नहीं हो सकता और उच्चारण करते ही एक एक अक्षर का नाश हो जाता है। फिर वह सब इकट्ठे किस प्रकार हो सकते हैं? और यदि कहा जाय कि एक अक्षर ही अर्थबोध कराता है तो इतने अक्षरों की आवश्यकता क्या? इसलिये इन अक्षरों के अतिरिक्त स्फोट नामक एक स्वतंत्र चीज माननी पड़ेगी। "तस्मा-

स्फोटवाद

द्वर्णानां वाचकत्वानुपपत्तौ, यद्बलादर्थप्रतिपत्तिः स स्फोट इति वर्णातिरिक्तो वर्णाभिव्यङ्ग्योऽर्थप्रत्यायको नित्यः शब्दः स्फोट इति तद्विदो वदंति" (सर्वदर्शनसंग्रह) अर्थात् वर्णों की वाचकता न सिद्ध होने पर जिसके बल से अर्थ की प्राप्ति होती है, वह स्फोट है। वह वर्णों से पृथक् परंतु वर्णों द्वारा अभिव्यंजित अर्थ का प्रत्यायक नित्य शब्द स्फोट है। शब्द-स्फोट की भाँति वाक्य-स्फोट भी माना गया है। किंतु जिस प्रकार नैयायिकों ने शब्द-स्फोट नहीं माना है, उसी प्रकार वाक्य-स्फोट भी नहीं माना है। वाक्य के पदों का संस्कार अन्तिम पद के साथ वाक्य का अर्थबोध कराता है। यह शब्द के स्फोट का वर्णन है। इसी प्रकार वर्ण-स्फोट और वाक्य-स्फोट भी होते हैं।

न्याय में स्फोट को नहीं माना है। नैयायिकों का कहना है कि पुस्तक के प, उ, स, त, अ, क, अ, अक्षर अपना संस्कार छोड़ते जाते हैं और वह संस्कार अन्तिम अक्षर से मिलकर अर्थ का बोधक हो जाता है; और जब इतने में ही अर्थ की सिद्धि हो जाती है, तब वृथा एक और चीज क्यों मानें।

स्फोट के सिद्धांत को वेदांत, सांख्य और वैशेषिक ने भी नहीं माना है। योग और मीमांसा ने स्फोट का सिद्धांत माना है।

छठा अध्याय

ऐतिह्य, अर्थापत्ति आदि अन्य प्रमाण

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द के अतिरिक्त चार और प्रमाणों का उल्लेख किया जाता है। किंतु उनका, अनुमान और शब्द के अंतर्गत होने के कारण, स्वतंत्र वर्णन नहीं किया गया है। इनका उल्लेख नीचे के सूत्रों में आया है।

ऐतिह्यादि प्रमाणों की व्याख्या

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाऽभावप्रामाण्यात् (२ । २ । १) शब्द ऐतिह्यानर्थांतरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसंभवाभावानामर्थांतरभावाश्चाप्रतिषेध (२ । २ । २ ।)

यह प्रमाण इस प्रकार से हैं—

(१) ऐतिह्य—जो बात परंपरा से चली आ रही हो और जिसके लिये यह न मालूम हो कि इस बात का आदि कहाँ से है। ऐसी बात को लोग मानते हैं। यह प्रमाण शब्द के अंतर्गत है। इसके द्वारा परंपरा-प्राप्त बातों के ऐतिहासिक सत्य का निर्णय किया जाता है।

(२) अर्थापत्ति—एक बात से दूसरी बात का, जो उसके साथ लगी हुई है, निकालना। जैसे देवदत्त मोटा है और दिन में नहीं खाता; इससे रात मे खाता होगा।

पत्तिरनुमानेन संगृह्यते ? द्वयोरेकतरप्रतिषेधस्य द्वितीयाभ्यनुज्ञा विषयत्वात्। यत्र यत्र द्वयोर्वस्तुनोरेकतरद्वस्तु प्रतिषिध्यते तत्र तत्र द्वितीयाभ्यनुज्ञा दृष्टा। "यथा दिवा न भुंक्ते इत्यभिधानाद्रात्रौ भुंक्ते इति गम्यते"। इस तरह के अनुमान में मूल सिद्धांत यह माना गया है कि जहाँ पर दो बातों की संभावना होती है, वहाँ पर उनमे एक के प्रतिषेध से दूसरा अभ्यनुज्ञा अर्थात् अस्तित्व का विषय होता है। यह अँगरेजी तर्क मे Modus tolendo ponens अर्थात् "निषेध द्वारा किसी का भाव स्थापित करना" कहलाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर अर्थापत्ति में दोष दिखाया जाता है। वह इस प्रकार से है—'असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवति' इसमे अर्थापत्ति यह है कि सत्सु मेघेषु वृष्टिर्भवति। बादलों के न होने से वृष्टि नहीं होती; इससे यह अर्थापत्ति होगी कि मेघों के रहते हुए वृष्टि होगी। यह अनुमान दूषित है। इसके विषय में अनैकांतिकता के आधार पर आपत्ति उठाई गई है; क्योंकि कभी तो मेघों के होते हुए वृष्टि होती है और कभी नहीं होती। इसका निराकरण इस प्रकार है कि यह अर्थापत्ति का दोष नहीं। अनर्थापत्ति मे अर्थापत्ति के अभिमान करने का दोष है। मेघो के न रहने से वृष्टि न होगी; इससे मेघों के होते हुए वृष्टि का होना अनुमान करना ठीक अर्थापत्ति नहीं। इससे यह तो अर्थापत्ति हो सकती है कि अगर वर्षा हुई हो तो मेघ हुए होंगे; क्योंकि कार्य के लिये कारण की आवश्यकता है; पर कारण के लिये कार्य की

आवश्यकता नहीं। कारण के अभाव मे कार्य नहीं हो सकता; और ऐसा भी नहीं हो सकता कि कार्य हो और कारण न हो। किंतु कारण के रहते हुए कार्य का न होना संभव है। प्रतिबंधक कारणो के उपस्थित हो जाने से मेघों के होने से वृष्टि का होना संदिग्ध अनुमान है। इसको अर्थापत्ति कहना कहनेवाले की भूल या दुष्टता है। वास्तव में यह अनुमान का दोष नहीं है, वरन् कारण में अन्य प्रतिबंधक कारणो के आ जाने का दोष है। यदि मेघों के साथ वर्षा के सब उपकरण विद्यमान हों और वायु आदि प्रतिबंधक न हों तो मेघों के होते हुए वृष्टि अवश्य होती है। यदि पूरी कारणमालाओं का ज्ञान हो सके तो असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवति से सत्सु भवति का अनुमान करना ठीक है, अन्यथा नहीं। हम सर्वज्ञ नहीं हैं, इस कारण हम ऐसी अर्थापत्ति नहीं कर सकते।

अर्थापत्ति दो प्रकार की मानी गई है, एक दृष्ट दूसरी श्रुत। जहाँ देखी हुई बात से अर्थ की आपत्ति प्राप्ति की जाय, वहाँ दृष्ट अर्थापत्ति है। जैसे देवदत्त को मोटा ताजा देखते हैं। वह दिन में नहीं खाता, इसलिये रात को खाता है। यदि देवदत्त का मोटापन सुना हुआ होता तो श्रुत अर्थापत्ति होती। श्रुत-अर्थापत्ति में यह बात लगी रहती है कि यदि सुनी हुई बात ठीक है तो यह बात भी ठीक है।

न्याय ने अर्थापत्ति को माना है, किंतु उसको स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना है। मीमांसक लोग इसको अनुमान से

भिन्न मानते हैं। मीमांसक लोग अर्थापत्ति का जो उदाहरण देते हैं, वह इस प्रकार से है। देवदत्त जीवित है और घर

अर्थापत्ति के संबंध से मीमांसकों का मत

मे नही रहता; अतः वह घर से बाहर रहता है। प्रभाकर के मत से देवदत्त की सत्ता का ज्ञान उसके घर मे न पाए जाने के कारण संदेहात्मक हो जाता है। इस संदेह को दूर करने के लिये हमे यह मानना पड़ता है कि देवदत्त कही और रहता है। अनुमान मे लिग सदेहात्मक नहीं होता। अर्थापत्ति मे संदेह से निश्चय होता है; अनुमान में एक निश्चय से दूसरा निश्चय होता है। धूम के निश्चय से अग्नि का निश्चय होता है। कुमारिल के मत से अर्थापत्ति की उत्पत्ति संदेह मे नहीं होती। संदेह का शमन तो देवदत्त को मरा हुआ मानकर भी हो सकता है। देवदत्त की सत्ता का निश्चय उसके घर मे न रहने के विरोध मे पड़ता है। इस विरोध का शमन करने के लिये देवदत्त का घर से वाहर रहना मानना पड़ता है। अर्थ की अनुपपत्ति से अर्थापत्ति होती है। अनुमान मे पहले हेतु देखा जाता है, और हेतु से साध्य का ज्ञान होता है। अर्थापत्ति मे साध्य द्वारा हेतु (उसका घर मे न रहना और जीवित होना) की स्थिति निश्चित की जाती है। यदि साध्य को न मानें तो देवदत्त के जीवित रहने के ज्ञान और उसके घर में न रहने के निश्चित ज्ञान मे विरोध पड़ेगा और उन दोनों मे से कोई एक अनिश्चित हो जायगा। जिस प्रकार अर्थापत्ति का

काम अनुमान से नहीं निकल सकता, उसी प्रकार अनुमान का काम भी अर्थापत्ति से नहीं निकलता। व्याप्ति के न मानने से कोई विरोध नहीं उत्पन्न होता। अर्थापत्ति का आधार विरोध में है।

वास्तव मे बात यह है कि दोनों प्रकार की उपपत्तियों में थोड़ा बहुत अंतर है, किंतु ऐसा नहीं कि एक को दूसरे आकार में न रक्खा जाय। इसी लिये न्याय ने अर्थापत्ति को मानते हुए उसे स्वतंत्र स्थान नहीं दिया। व्याप्तिज्ञान के साथ पक्ष-धर्मता ज्ञान होते हुए साध्य का न मानना एक प्रकार का विरोध ही है; क्योंकि यदि एक स्थल मे साध्य नहीं माना जायगा तो व्याप्ति दूषित हो जायगी। अर्थापत्ति किस प्रकार अनुमान के रूप मे रखी जा सकती है, यह पहले ही दिखलाया जा चुका है।

इसकी इस प्रकार व्याख्या की गई है—"अविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणं संभवः"। जिसके

म्भव

अर्थ के बिना दूसरा न रह सके, ऐसे अर्थ की सत्ता के ग्रहण करने से दूसरे अर्थ का ग्रहण करना "संभव प्रमाण" कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—एक संभावनारूप और दूसरा निर्णयरूप। यदि हम कहे कि अमुक मनुष्य ब्राह्मण है, इसलिये पंडित भी होगा, तो यह संभावना मात्र है। वह पंडित हो या न हो, इस विषय में निश्चय रूप से नहीं कह सकते। परंतु यदि हम

कहें कि उसके पास १००) है तो उसके पास ५०) होना आवश्यक है। इसको निर्णय रूप कहेंगे। अथवा यों कहिए कि यदि कोई मनुष्य आचार्य परीक्षा पास है तो प्रथमा उसने अवश्य पास की होगी। इस प्रकार के अनुमान को A'foitrioii अनुमान कह सकते हैं।

अभाव की इस प्रकार व्याख्या की गई है—"अभावो विरोधी अभूतं भूतस्याविद्यमानं वर्षकर्म विद्यमानस्य वाय्वभ्र-संयोगस्य प्रतिपादकं विवारके हि वाद्य भ्रसंयोगे गुरुत्वादपां पतनकर्म न भवतीति"।

अभाव

अभाव अभूत का भूत के विरोध को कहते हैं। जहाँ दो प्रतिकूल पदार्थ होते हैं, वहाँ एक के अभाव से दूसरे का भाव और एक के भाव से दूसरे का अभाव होगा, क्योंकि इसके अतिरिक्त और कोई गति नहीं होती। "परस्पर-विरोधे हि न प्रकारांतरस्थितिः।" वर्षा का न होना (मेघ होते हुए भी) वायु और अभ्र के संयोग का प्रतिपादक होता है; और यदि वायु तथा अभ्र का संयोग पाया जाय तो वर्षा का जल न होने की अपेक्षा की जायगी। यदि वर्षा हो तो इस संयोग का अभाव पाया जायगा। संक्षेपतः अभाव नाम के प्रमाण से दो विरोधियों में से एक के भाव से दूसरे का अभाव और एक के अभाव से दूसरे का भाव सिद्ध होता है। अभाव के स्वतन्त्र प्रमाण होने मे जो आपत्ति उठाई गई है, उसका निराकरण इस प्रकार किया गया है—

"लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः"।

—२।२।८।

अभाव से प्रमेय की सिद्धि होने के कारण वह प्रमाण माना गया है। जिस प्रकार चिह्न के भाव से ज्ञान होता है, वैसे ही चिह्न के अभाव से भी ज्ञान होता है। यदि किसी जगह बहुत से चिह्नवाले कपड़े रक्खे हों और उनमे एक कपड़ा बिना चिह्न का हो और किसी मनुष्य से कहा जाय कि बिना चिह्नवाला कपड़ा लाओ, तो वह संकेत से उस कपड़े को तलाश करके ला सकता है। यह अभाव उसके लिये सफल प्रवृत्ति का कारण हुआ। इसलिये अभाव भी प्रमाण है।

अभाव का प्रत्यक्ष विशेषणता संबंध द्वारा होता है। घट का अभाव घट के अधिकरण का विशेषण है। घट के अभाव के प्रत्यक्ष होने मे घट (जो उसका प्रतियोगी है) का स्मरण कारण है। कुछ लोग (प्रभाकर मत के मीमांसक) अभाव को तदधिकरण स्वरूप मानते हैं; अतः अभाव के अधिकरण के प्रत्यक्ष को ही अभाव का प्रत्यक्ष मानते हैं। किंतु ऐसा नहीं है। अभावयुक्त वा अभाव-विशिष्ट अभाव के अधिकरण का प्रत्यक्ष होने से अभाव का प्रत्यक्ष होता है। घट के अभाव का अधिकरण भूतल और घट का अभाव एक वस्तु नहीं। केवल भूतल देखने से घट के अभाव का ज्ञान नहीं हो जाता। यदि भूतल और घट के अभाव में कुछ भेद न होता तो घट के रहते हुए भी भूतल

अभाव का प्रत्यक्ष

रूप से घट का अभाव वहाँ रहता; इसलिये हमको ऐसा मानना पड़ेगा कि अभाव के प्रत्यक्ष मे उस प्रकार के अभावयुक्त अधिकरण का प्रत्यक्ष होता है। इसी लिये इस संबंध को विशेष्य-विशेषण संबंध कहा है। कुमारिल का मत न्याय मत से मिलता है। इस संबंध मे एक बात कह देना आवश्यक है कि एक अधिकरण मे एक ही वस्तु का भाव रह सकता है, किंतु अभाव कई वस्तुओं का रह सकता है। ऐसा कहते ही हैं कि न वहाँ राम है, न श्याम है, न देवदत्त। यह कपड़ा न काला है, न नीला, न हरा, किंतु पीला है। वास्तव मे हर एक चीज मे भाव और अभाव दोनों ही लगे रहते हैं। एक वस्तु मे उसके गुणों का भाव होता है और उससे इतर पदार्थों मे रहनेवाले गुणों का अभाव होता है। जैसे घट में घटत्व का जो भाव है, उसके अतिरिक्त और सब बातो का अभाव है। यदि कोई वस्तु निश्चित हो जाय कि यह घट है तो हम निश्चय से कह सकते हैं कि यह अ-घट नहीं है। जब हम घट मे पट के गुणो का अभाव बतलाते हैं तो यह न समझा जाय कि घट मे पट के सभी गुणो का अभाव है। ऐसा नहीं हो सकता। घट मे भी पट के साधारण (द्रव्यत्व, स्थूलत्व आदि) गुण वर्तमान रहते हैं। किंतु इन गुणों के एक होने से घट और पट एक नहीं हो सकते।

अभाव के पहले दो भेद किए हैं—एक संसर्गाभाव और दूसरा अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव के फिर तीन भेद किए गए

अभाव के प्रकार

हैं। वे भेद इस प्रकार से हैं—

(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव और (३) अत्यंताभाव।

प्रागभाव—विनाश होनेवाले अभाव को प्रागभाव कहते हैं। जो अभाव पहले हो और फिर न हो; जैसे, घट का अभाव घट की उत्पत्ति से पहले था और उसकी उत्पत्ति होते ही नाश को प्राप्त होता है। यह अभाव अनादि है, किंतु अनंत नहीं है।

प्रध्वंसाभाव—उत्पन्न होनेवाले अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यह अभाव पूर्व मे रहे हुए प्रतियोगी के नाश से उत्पन्न होता है। घडा टूटने पर घड़े का अभाव हो जाता है। यह अभाव पहले न था। यह सादि है, पर अनंत है।

अत्यंताभाव—जिसका भाव कभी नहीं था, वह अत्यंताभाव है। जो आदि से अंत तक तीनों काल में न हो; जैसे खरगोश में सींगों का अत्यंताभाव है। खरगोश के सींग न पहले थे और न कभी होंगे। आकाश मे कमल न पहले थे और न कभी होंगे। बहुत से लोग वर्तमान काल में ही किसी चीज के स्थल विशेष में न होने को ही अत्यंताभाव मानते हैं। जैसे, भूतले घटो नास्ति—भूतल में घट का अत्यंताभाव है। यह अत्यंताभाव उसी काल के लिये है। अगर वहाँ पर घट लाकर रख दिया जाय तो वह अत्यंताभाव न रहेगा। इस प्रकार के अभाव को कुछ लोगों ने एक पृथक् उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाला सामयिक अभाव माना है। प्राचीन लोगों का कहना है कि प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव के अधिकरण में अत्यंताभाव नहीं रह

सकता। मिट्टी जो है, वह घड़े के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का अधिकरण है; वह उसके अत्यंताभाव का अधिकरण नहीं हो सकती। नवीन लोगों का कहना है कि अत्यंताभाव का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव के अधिकरण में रहने में कोई विरोध नहीं है।

अन्योन्याभाव तीनों कालों में एक चीज का दूसरे से तादात्म्य न होना है। जैसे घट पट नहीं है, घोड़ा गाय नहीं है। अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव मे इतना ही भेद है कि अन्योन्याभाव मे तादात्म्य संबंध से रहनेवाले प्रतियोगी का अभाव दिखाया जाता है और अत्यंताभाव मे अनुयोगी में समवाय, संयोगादि संबंध से रहनेवाले प्रतियोगी का अभाव बतलाया जाता है। घट पट नहीं है। यहाँ पर उनके तादात्म्य संबंध से अभाव बतलाया गया है। अर्थात् दोनों का अत्यंताभाव नहीं है, किंतु दोनों के तादात्म्य का अभाव है। खरगोश के साथ सींग समवाय या संयोग संबंध से नहीं रह सकते। इनके अतिरिक्त दो और अभाव माने गए हैं—एक अपेक्षाभाव या किसी वस्तु का स्थानांतर होने से अभाव होना; और दूसरा सामर्थ्याभाव जो किसी मनुष्य मे किसी सामर्थ्य के अभाव को कहते हैं।

वैशेषिककार ने अभाव का प्रत्यक्ष तो माना है, किंतु अभाव को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना। अभाव को न्याय ने भी अनुमान के अंतर्गत माना है।

अभाव के दो अर्थ

अभाव का जो समर्थन किया गया है, वह इस बात का है कि अभाव से अनुमान हो सकता है, न

कि इस बात का कि वह स्वतंत्र प्रमाण है। इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अभाव प्रमाण का अर्थ विरोध है और अभाव पदार्थ किसी वस्तु की असत्ता को कहते हैं। पहले अर्थ में अभाव को अनुपलब्धि भी कहते हैं। अत्यंताभाव इत्यादि अभाव पदार्थ के विभाग हैं। अभाव के इन विभागों के मानने की इस प्रकार आवश्यकता पड़ी कि यदि प्रागभाव न माना जाय तो सब वस्तुएँ अनादि हो जायँ। यदि प्रध्वंसाभाव न माना जाय तो सब वस्तुएँ अनंत हो जायँ। यदि अत्यंताभाव न माना जाय तो सब वस्तुएँ अनादि और अनंत हो जायँ। यदि अन्योन्याभाव न माना जाय तो किसी वस्तु मे भेद ही न रहे। वस्तुएँ सादि, सांत और भेदवाली हैं, इसलिये ये सब प्रकार के अभाव मानने पड़ते हैं।

अनुपलब्धि के प्रकार

अभाव सत्ता से संबंध रखता है और अनुपलब्धि प्रमाण से संबंध रखती है। अभाव के प्रकार बतलाए जा चुके हैं। अनुपलब्धि के प्रकार नीचे दिए जाते हैं।

(१) स्वभावानुपलब्धि। जैसे यहाँ पर घट का प्रत्यक्ष नहीं है; क्योंकि यहाँ पर घट नहीं है। जो वस्तु है ही नहीं, उसका क्या प्रत्यक्ष हो सकता है ? (२) कारणानुपलब्धि अर्थात् कारण के अभाव से कार्य्य का अभाव। जैसे यहाँ पर धूआँ नहीं है, क्योंकि यहाँ पर अग्नि नहीं है। (३)

व्यापकानुपलब्धि या व्यापक के अभाव से व्याप्य का अभाव। जैसे यहाँ पर वट वृक्ष नहीं है, क्योंकि यहाँ पर कोई वृक्ष नहीं है। (४) कार्य्यानुपलब्धि अर्थात् कार्य के अभाव से कारण का अभाव। जैसे यहाँ धूएँ का कारण (गीले ईंधन सहित अग्नि) नहीं है, क्योंकि यहाँ पर धूआ नहीं है। (५) स्वभावविरुद्धोपलब्धि अर्थात् स्वभाव के विरोध द्वारा उपलब्धि। अग्नि और शीत का विरोध होने के कारण यहाँ पर शीत-स्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि का अभाव है। (६) विरुद्धकार्योपलब्धि अर्थात् विरोधी कार्य्यद्वारा उपलब्धि। जैसे यहाँ शीत-स्पर्श नहीं है, क्योकि यहाँ पर धूआँ है। धूआँ अग्नि का कार्य्य है, इसलिये कार्य्य द्वारा उपलब्धि। (७) विरुद्ध-व्याप्तोपलब्धि या विरुद्ध व्याप्ति द्वारा उपलब्धि। जैसे भूत काल अवश्यंभावेन विनाशी नहीं है, क्योंकि अन्य कारण पर निर्भर है। (८) कार्य्यविरुद्धोपलब्धि अर्थात् कार्य्य के विरोध द्वारा उपलब्धि। जैसे यहाँ पर शीत के कारण नहीं हैं, क्योकि यहाँ पर अग्नि है। (९) व्यापकविरुद्धोपलब्धि अर्थात् व्याप्य व्यापक भाव के विरोध द्वारा उपलब्धि। जैसे यहाँ पर हिम का सा स्पर्श नहीं है, क्योंकि अग्नि है। (१०) कारणविरुद्धोपलब्धि अर्थात् कारण के विरोध द्वारा उपलब्धि। जैसे यहाँ वह शीत से ठिठुर नहीं रहा है, क्योंकि अग्नि के निकट है। (११) कारणविरुद्ध कार्य्योपलब्धि अर्थात् कार्य्य के कारण से विरोध द्वारा उपलब्धि। जैसे यहाँ धूआँ है, इसलिये वह शीत

से ठिठुर नहीं रहा है। धूएँ का कारण अग्नि है, उसका शीत से विरोध है; अतः धूएँ से शीत का अभाव है।

इस अनुपलब्धि के संबंध मे इतना कह देना आवश्यक है कि देखने योग्य वस्तु की ही अनुपलब्धि का ज्ञान हो सकता है। जो चीजें देखी जाने योग्य हैं, वह अगर न देखी जायँ तो उनके संबंध मे कुछ निगमन निकाला जाता है। किंतु जो बात देखी नहीं जा सकती, उसके न देखे जाने से उसके अस्तित्व के विषय मे कुछ नहीं कहा जा सकता।

सातवाँ अध्याय

तर्क, वाद, जल्प, वितंडा, छल और हेत्वाभास

प्रमा और अप्रमा के करण प्रमाणों का वर्णन हो चुका है। प्रमा के साथ अप्रमा का भी वर्णन आवश्यक है; क्योंकि तर्क-शास्त्र का संबंध दोनों से है। अयथार्थ क्या है, इसके जान लेने से यथार्थ का निश्चय सुलभता से हो जाता है; और तर्कशास्त्र द्वारा निश्चित किए हुए अप्रमा के प्रकारों को जान लेने से यह लाभ होता है कि उनको निश्चित रूप से वतलाने में सुभीता होता है।

अप्रमा

अप्रमा के मुख्य रूप दो हैं—(१) संशय और (२) विपर्य्यय। पर कहीं कहीं अनध्यवसाय और स्वप्न भी अप्रमा के रूप माने गए हैं। संशय मे दो ज्ञानों के वीच मे निश्चय का अभाव रहता है। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष? (२) विपर्य्यय विपरीत ज्ञान को कहते हैं। रज्जु को सर्प और रजत को शुक्ति मान लेना विपर्य्यय के उदाहरण हैं। इसमे निश्चय तो रहता है, किंतु वह निश्चय विपरीत होता है। (३) अनध्यवसाय ज्ञान अनिश्चित ज्ञान को कहते हैं। संशय में जो अनिश्चय होता है, इसमें और उसमें थोड़ा भेद है। वह भेद इस प्रकार से है। संशय मे यह निश्चय नहीं होता कि वृक्ष है अथवा

पुरुप। अनध्यवसाय का निश्चय इस प्रकार से है। किसी वृक्ष को देखकर यह न निश्चय कर सकना कि यह शिंशपा वृक्ष है अथवा और कोई। इसको संशय के ही अंतर्गत लिया जाता है। स्वप्न को विपर्य्यय मे रक्खा जा सकता है। इन साधारण प्रकारों के अतिरिक्त अप्रमा के और कई प्रकार माने गए हैं। इन प्रकारों का संबंध अप्रत्यक्ष ज्ञान से है। वे इस प्रकार से हैं। तर्क, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। तर्क को अयथार्थ ज्ञान में स्थान दिया गया है। तर्क की न्यायसूत्र मे इस प्रकार परिभापा दी गई है—

"अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।"

अर्थात् जिसका तत्त्व नहीं जाना जाय, ऐसे अर्थ वा विपय मे कारण की उपपत्ति से तत्त्वज्ञान के लिये विचार करना तर्क है। साध्य के विरोधी धर्मों को विचारकर देखा जाता है कि कौन कारण से संबंध रखता है और कौन नहीं रखता इसको विमर्श कहते हैं। जो धर्म साध्य के कारण से संबंध नहीं रखता, उसका निराकरण कर कारण से संबंध रखनेवाले धर्म का स्थापन किया जाता है।

यद्यपि यह अयथार्थ ज्ञान का एक रूप है, तथापि इसके द्वारा संशय की निवृत्ति होकर यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। तर्क से ही निश्चय की उत्पत्ति होती है। यदि कोई तालाव में धूआँ उठता हुआ देखकर यह शंका करे कि 'यह धूआँ है वा भाप ?' तो इस शका की तर्क द्वारा इस प्रकार निवृत्ति हो सकती है। मान लो कि यह धूआं है। किंतु यदि

ऐसा है तो इसकी उत्पत्ति अग्नि से होनी चाहिए; और जल अग्निवान् पदार्थ है, जब इस वदतोव्याघात मे आ जाते हैं, तब हमको विचार होता है कि यह वाष्प को धूआँ मानने का फल है। यहाँ पर धूम के कारण अग्नि का जल से विरोध है। अतः हमने वाष्प मे धूमत्व का जो आरोप किया था, वह मिथ्या था, और हश्यवान् पदार्थ धूआँ नहीं था, वरन् वाष्प ही था।

तर्क का क्रम इस प्रकार से है—पहले 'संशय' फिर 'तर्क' और अंत मे विमर्श द्वारा 'निर्णय'। तर्क करने मे जो आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं, वह प्रायः पाँच प्रकार की होती हैं। उन्हे दोष कहते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, और वाधितार्थप्रसंग। विस्तार भय से इनका वर्णन नहीं किया जाता।

वाद, जल्प, वितंडा—पक्ष और प्रतिपक्ष के ग्रहण को कहते हैं। वाद में अपने पक्ष का समर्थन और दूसरे के पक्ष का खंडन होता है। इसमे जो साधन व्यवहार में लाए जाते हैं, वह उचित होते हैं। जल्प में भी यही होता है; किंतु जो साधन व्यवहार में लाए जाते हैं, वह अनुचित होते हैं। इसमे छल, जाति, निग्रहस्थान और हेत्वाभास से काम लिया जाता है। छलों का वर्णन हम दूसरे भाग मे कर आए हैं। छल भाषा के दुरुपयोग से संबंध रखता है। छल की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—' वचनविघातोर्थविकल्पोपपत्त्या छलं''। अर्थ

को बदलकर वचन का विघात करना छल कहलाता है। हेत्वाभास, जाति और निग्रहस्थान का वर्णन आगे किया जायगा। जल्प में पक्ष का समर्थन और प्रतिपक्ष का खंडन किया जाता है; किंतु छल आदि अनुचित साधनों से केवल विपक्ष के खंडन को वितंडा कहते हैं। वितंडावादी केवल दूसरे की पराजय के लिये बहस करता है, जिज्ञासा के लिये नहीं। वाद जिज्ञासा के लिये होता है। वाद के भी नियम हैं, पर वे यहाँ नहीं दिए जाते हैं। जिज्ञासु को चाहिए कि वह स्वयं हेत्वाभासों, जातियों और छलों में न पड़े और न दूसरे को इनमे पड़ने दे। अब हेत्वाभासों का वर्णन दिया जाता है।

हेत्वाभास

हेत्वाभास शब्द का दो अर्थों में प्रयोग होता है। एक अर्थ में तो हेतुओं मे जो दोष होता है, उसको बतलाता है; और दूसरे अर्थ मे इन दोषों से दूषित अनुमान हेत्वाभास कहलाता है। साधारणतया इस शब्द का दूसरे अर्थ में ही प्रयोग होता है। हेत्वाभास उस अनुमान को कहते हैं, जिसका हेतु केवल देखने मे (आभास) हेतु मालूम हो, और जो वास्तव मे हेतु के लक्षणो से रहित हो; अर्थात् उसमे सब या किसी लक्षण की कमी हो। वात्स्यायन भाष्य में हेत्वाभास की इस प्रकार व्याख्या की गई है—"हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धे-

प्रमाण द्वारा प्रमेय

तुवदाभासमानाः त इमे हेत्वाभासाः" अर्थात् जहाँ हेतु के लक्षणों से रहित होने के कारण अहेतु वा दूषित हेतु सद्धेतु के सादृश्य से हेतु सा दिखाई पड़ता हो, वह हेत्वाभास है। न्यायसार मे हेत्वाभास की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—"हेतुलक्षणरहिता हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः"। अर्थात् हेतु के लक्षणों से रहित पर हेतु से दिखाई पड़नेवाले हेत्वाभास हैं।

न्याय सूत्रों में ५ हेत्वाभास माने गए हैं—

(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) प्रकरणसम, (४) साध्यसम और (५) कालातीत।

अब एक एक करके इनका वर्णन किया जाता है।

(१)सव्यभिचार—इसको नवीन ग्रंथकार अनैकांतिक कहते हैं। सूत्रकार ने भी इसकी परिभाषा करते हुए इसको अनैकांतिक कहा है—'अनैकांतिकः सव्यभिचारः'। जो हेतु व्यभिचार (एकत्राव्यवस्था) सहित हो, उसको सव्यभिचार कहते हैं। एकत्राव्यवस्था का यह अर्थ है कि एक जगह नियम से न रहे, अर्थात् जो साध्य के साथ भी रहे और उससे भिन्न जातीय पदार्थों मे भी रहे। (साध्य तज्जातीयान्य-वृत्तित्वं व्यभिचारः।)

जैसे कोई कहे कि शब्द नित्य है, स्पर्शवाला न होने के कारण, जैसे आत्मा; लेकिन बुद्धि स्पर्शवाली नहीं है और अनित्य है। 'स्पर्शवाला न होना' यह हेतु नित्य पदार्थों मे भी पाया जाता है और नित्य से भिन्न बुद्धि आदि अनित्य

पदार्थों में भी रहता है। नित्य एक अंत है और अनित्य दूसरा अंत है। अतः एकांत नाम व्याप्ति का है, यह जिसमे रहे उसे ऐकांतिक कहते हैं, ऐकांतिक न होने के कारण यह असद् हेतु अनैकांतिक कहलाता है। ऐसी अवस्था मे परस्पर प्रतिकूल निगमन निकल सकते हैं। यदि आत्मा का उदाहरण लिया जाय तो शब्द का नित्यत्व सिद्ध हो सकता है; और यदि बुद्धि का उदाहरण लिया जाय तो अनित्यत्व सिद्ध हो सकता है। वास्तव मे वात यह है कि स्पर्श-गुण-रहित इस हेतु और नित्यत्व साध्य मे व्याप्ति नहीं है। इन दोनों का अविनाभाव नहीं है। बुद्धि आदि के विपरीत उदाहरण होते हुए हम यह नहीं कह सकते कि जहाँ जहाँ स्पर्श गुण नहीं होता, वहाँ वहाँ नित्यत्व गुण वर्तमान रहता है; और पृथ्वी आदि के परमाणुओं के होते हुए यह भी नहीं कह सकते कि जहाँ पर स्पर्श गुण न होने का अभाव है, वहाँ पर नित्यता का भी अभाव है। यदि कम से कम यह वात सावित होती कि जिन जिन स्थानो मे स्पर्श गुण का अभाव है, वहाँ नित्यत्व गुण रूपी साध्य वर्तमान है तो अनुमान हो जाता। लेकिन ऐसी वात न होने के कारण अनुमान नहीं हो सकता। पश्चिमी तर्क के अनुसार नीचे के तर्क का आकार दुरुस्त है। "जो जो स्पर्श गुण-रहित पदार्थ हैं, वह नित्य हैं। शब्द स्पर्श गुण-रहित पदार्थ है, अतः वह नित्य है।" परंतु इसका साध्य वाक्य (Major Premise) अनुचित सामान्यीकरण

(False generalisation) का फल है। यह वाक्य पूर्ण व्याप्ति का नहीं है; इसलिये इसका मध्य पद व्याप्त (Distributed) नहीं है। अनुमिति के लिये व्याप्ति और पक्ष-धर्मता दोनों बातें चाहिएँ। इसमें व्याप्ति व्यभिचार-रहित न होने के कारण ठीक नहीं; इस कारण यहाँ पर अनुमिति नहीं प्राप्त हो सकती। इस व्याप्ति का मन, बुद्धि आदि अनित्य पदार्थों मे व्यभिचार है। यह स्पर्श गुण-रहित होना हेतु, आत्मादि सपक्षों और मन, बुद्धि आदि विपक्षो में रहता है। इसमें विपक्षव्यावृत्ति गुण नहीं है।

सव्यभिचार हेतु दो प्रकार के माने गए हैं—

(क) साधारण—जहाँ पर हेतु पक्ष में भी हो और विपक्ष में भी; जैसे शब्द नित्य है, प्रमेय होने के कारण। प्रमेयत्व गुण नित्य पदार्थों में भी पाया जाता है और अनित्यो में भी।

(ख) असाधारण—जो खाली पक्ष मे हो, और कहीं न हो, जैसे पृथ्वी नित्य है, क्योंकि उसमे गंध है। इसमें केवल पक्ष ही पक्ष है; न सपक्ष है, न विपक्ष। गंधत्व और नित्यत्व का संबंध पृथ्वी के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। इसलिये इस अनुमान में प्रतिज्ञा से आगे नहीं बढ़ना होता। शब्द नित्य है, शब्दत्व गुणवाला होने से। यहाँ पर शब्दत्व गुण केवल शब्द ही में है, और कहीं नहीं। इसमें यह बात सिद्ध नहीं होती कि नित्यत्व और शब्दत्व का साथ और कहीं है या नहीं। ऐसे हेतु से कुछ सिद्ध नहीं होता। कुछ नवीन नैयायिकों ने असाधारण का इस प्रकार लक्षण दिया है—

"असाधारण: साध्यासमानाधिकरणो हेतु:" अर्थात् साध्य के साथ एकाधिकरण मे जो कहीं न रहे, वह असाधारण कहलाता है। उदाहरण—शब्द नित्य है, शब्दत्व गुणवाला होने से। यहाँ पर शब्दत्व गुण नित्यत्व गुण के साथ एकाधिकरण मे नहीं रहता। शब्दत्व का कार्यत्व के संबंध से अनित्यत्व के साथ एकाधिकरण है, पर नित्यत्व जो साध्य है, उसके साथ एकाधिकरण नहीं है।

(ग) अनुपसंहारी—कुछ नवीन नैयायिकों ने अनुपसंहारी नाम का एक और भेद माना है। इसमे पक्ष को छोड़कर संसार मे कुछ नहीं रहता। जैसे सब चीजे अनित्य हैं, प्रमेय होने के कारण। प्रमेयत्व गुण से भी पाया जाता है। प्रमेय से कोई वाहर नहीं। इसमे सपक्ष या विपक्ष किसी की गुंजाइश नही। इन भेदों का आधार इस प्रकार से मालूम होता है। साधारण में पक्ष और विपक्ष दोनों में हेतु ही रहता है। असाधारण में हेतु न सपक्ष में होता है और न विपक्ष में; और अनुपसंहारी मे सपक्ष या विपक्ष हो ही नही सकते। बहुत से नैयायिकों ने अनुपसंहारी को इस आधार पर निरर्थक माना है कि यदि प्रमेयत्व और अनित्यत्व की समान व्याप्ति है, तब तो हेतु दूषित नहीं; और यदि समान व्याप्ति नहीं तो वह साधारण की संज्ञा मे आ जायगा। न्यायसार के कर्ता ने असाधारण और अनुपसंहारी दोनों को ही अनध्यवसित के अंतर्गत किया है, क्योंकि इन दोनों मे केवल पक्ष ही पक्ष होता है, और विपक्ष

के न होने के कारण ये अनैकांतिक की परिभाषा मे नहीं आते। अनध्यवसित की इस प्रकार से परिभाषा की गई है—"साध्या-साधक: पक्ष एव वर्तमानो हेतुरनध्यवसित:"। साध्य का असाधक अर्थात् साध्य से निश्चित संबंध न रखनेवाला और केवल पक्ष में ही रहनेवाला हेतु अनध्यवसित कहलाता है। इसके छ: भेद बतलाए गए हैं। उनमे से दो भेद असाधारण और अनुपसंहारी हैं। सव्यभिचार हेत्वाभासों मे व्यभिचार दोष माना जाता है। न्यायसार में अनैकांतिक के सात भेद किए हैं। अँगरेजी तर्क से 'साधारण' सिद्धसाधन Petitio Principii के अंतर्गत होगा और अनुपसंहारी अव्याप्त में मध्य-पद (Undistributed Middle term) का दोष आवेगा।

(२) विरुद्ध—जहाँ पर हेतु से (जो बात सिद्ध करनी है, उससे) उलटा सिद्ध हो। यह हेतु केवल पक्ष मे और विपक्ष मे रहता है, सपक्ष मे नहीं। सपक्ष मे रहना और विपक्ष से अलग रहना यह जो सद्धेतु के गुण हैं, इन दोनों की इसमें प्रतिकूलता है। यह हेतु सपक्ष में या पक्ष मे भी नहीं रहता। इसका उदाहरण इस प्रकार दिया जाता है—

शब्द बना हुआ होने के कारण नित्य है। बना हुआ होना शब्द में पाया जाता है, किंतु और किसी नित्य पदार्थ मे नहीं पाया जाता। इसके अतिरिक्त यह घट, पटादि अनित्य पदार्थों मे, जो साध्य के विपक्ष के हैं, पाया जाता है। अनैकांतिक हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनों मे पाया जाता है; इस

कारण इससे दो विपरीत निगमन निकल सकते हैं और एक भी निश्चित नहीं ठहरता। विरुद्ध से विपरीत ही निगमन निकलता है।

न्यायसार में विरुद्ध के दो भेद किए हैं—एक वह जिनमे सपक्ष है, और दूसरे वह जिनमें सपक्ष नहीं है। फिर इनके चार चार भेद किए हैं।

अँगरेजी तर्क के अनुसार इसका भी साध्य वाक्य मिथ्या है। मिथ्या साध्य वाक्य से निगमन ठीक नहीं निकल सकता। वास्तव में इसका साध्य वाक्य प्रमात्मक है। कोई कार्य्य नित्य नहो है। इससे भावात्मक निगमन नहीं निकल सकता।

(३) प्रकरणसम या सत्प्रतिपक्ष—भाष्य मे प्रकरण की इस प्रकार परिभाषा दी गई है—"विमर्शाधिष्ठानौ पक्ष-प्रतिपक्षावुभावनवसितौ प्रकरणम्"। विमर्श अर्थात् विचार के अधिष्ठान या आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रकरण कहते हैं। जहाँ प्रकरण की समानता के कारण कोई निर्णय नहीं हो सकता, वहाँ प्रकरणसम हेत्वाभास होता है। अभिप्राय यह है कि जहाँ पक्ष और विपक्ष दोनों को सिद्ध करने के लिये तुल्य बलवान् हेतु वर्तमान हो और इस कारण कोई एक सिद्धांत निश्चित न हो सके तो उस दूषित अनुमान को प्रकरणसम कहते हैं। जैसे कोई कहे कि शब्द नित्य है, अनित्य गुण-रहित होने के कारण। इसके विपरीत यह बात उतनी ही पुष्टि के साथ कही जा सकती है कि शब्द अनित्य है,

नित्य गुण-रहित होने के कारण। इसमें वादी और प्रतिवादी दोनों के ही पक्ष को सिद्ध करने की शक्ति है। असत्प्रतिपक्ष जो सद्हेतु का गुण है, इसमें नहीं है; हाँ तुल्य-साधनता है।

सत्प्रतिपक्ष हेतु से संदिग्ध निगमन निकलता है, क्योंकि दोनों पक्ष और प्रतिपक्ष तुल्य बलवाले होते हैं। जहाँ पर पक्ष और प्रतिपक्ष में से एक अधिक बलवान् होता है, वहाँ पर बाधित हेत्वाभास हो जाता है। बाधित वह हेतु है जो किसी और बलवान् हेतु से बाधित हो जाय। अँगरेजी तर्क से यह दूषित अनुमान सिद्धसाधन Petitio Principii के ही अंतर्गत समझा जायगा।

(४) साध्यसम या असिद्ध—जिसमें हेतु साध्य के समान सिद्धि की अपेक्षा रखता हो, वह साध्यसम हेत्वाभास कहलाता है। साध्य की सिद्धि हेतु द्वारा होती है; और जहाँ हेतु ही सिद्धि की अपेक्षा रखता है, वहाँ पर साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, इसी लिये इसे असिद्ध भी कहते हैं। इसका उदाहरण इस प्रकार से दिया जाता है—छाया द्रव्य है, गतिवाली होने के कारण। छाया का द्रव्यत्व साध्य अर्थात् सिद्ध किया जाता है। इसमे छाया का गतिवाला होना हेतु है, किंतु यह हेतु स्वयं-सिद्ध नहीं है। छाया के चलने में उतना ही संदेह है जितना कि छाया के द्रव्य होने में। यहाँ हेतु साध्य के समान सिद्धि चाहता है; इसी लिये यह साध्यसम कहलाता है; और चूँकि यह हेतु स्वयं-सिद्ध नहीं होता, इसलिये यह असिद्ध कहलाता है।

साध्यसम या असिद्ध हेतु तीन प्रकार के होते हैं।

(क) प्रज्ञापनीय धर्म समान या स्वरूपासिद्ध,

(ख) आश्रयासिद्ध और

(ग) अन्यथासिद्ध या व्याप्यत्वासिद्ध।

(क) स्वरूपासिद्ध—जो असद्धेतु पक्ष मे न रह सकने के कारण असत् ठहराया गया हो, वह स्वरूपासिद्ध कहलाता हैं। 'ह्रदो द्रव्यं धूमवत्वात्'। तालाव है धूमवान् होने के कारण; यहाँ पर धूमवान् होना जो हेतु के रूप मे कहा गया है, तालाव में वहाँ अग्नि का अभाव होने से नहीं रह सकता, इसी लिये यह असिद्ध है और इसी से यह स्वरूपासिद्ध कहलाता है। इसमे पक्षधर्मता का अभाव है। यह हेतु में न रहने के कारण दूषित है। जब तक यह न सिद्ध कर दिया जाय कि ह्रद धूमवान् है, तब तक यह सिद्ध नहीं हो सकता कि ह्रद द्रव्य है। अँगरेजी तर्क से इसके पक्ष वाक्य-प्रसिद्ध हैं; इससे ठीक निगमन नहीं निकल सकता।

(ख) आश्रयासिद्ध—जिसका आश्रय या पक्ष असिद्ध अर्थात् सम्भव न हो। जब हेतु का आश्रय पक्ष है ही नहीं तो उसमे हेतु रहेगा कहाँ? इस कारण से हेतु दोषरहित नहीं कहा जा सकता। इसमें पक्षे सत्वं गुण का अभाव है। जैसे आकाश का कमल खुशबूवाला है, कमल होने के कारण, तालाब के कमल की भाँति। यहा पर आकाश का कमल जो पक्ष है, वह असंभव है। कांचनमय पर्वत वह्निमान् है, धूमवान् होने से।

कांचनमय पर्वत असंभव है। प्राचीनों ने इसके और प्रकार से उदाहरण दिए हैं। छाया द्रव्य है, क्योंकि वह चलती है। यहाँ पर छाया का चलना हेतु है। छाया का चलना जब तक ठीक नहीं माना जा सकता, तब तक उसका द्रव्य होना ठीक न माना जाय, क्योंकि द्रव्य ही चल सकता है। छाया चलने का आश्रय नहीं है, वरन् वह आश्रय द्रव्य है। चलना हेतु नहीं हो सकता। अँगरेजी तर्क के अनुसार यह अयथार्थ पक्ष वाक्य है; इससे यथार्थ निगमन नहीं निकल सकता।

(ग) अन्यथासिद्ध—जिस हेतु के बिना भी बात सिद्ध हो जाय, वह अन्यथासिद्ध है। ऐसी अवस्था मे सच्चा अविनाभाव नहीं होता, इसी लिये इसको व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। यह पुरुष पंडित है, क्योंकि काशी मे रहता है। यहाँ पर काशी मे रहना हेतु बतलाया गया है। यह असली हेतु नहीं। इसके न रहते हुए भी पांडित्य साबित किया जा सकता है। पांडित्य के लिये शास्त्राध्ययन आवश्यक है, न कि काशी मे रहना। काशी मे रहने के साथ जब तक शास्त्राध्ययन न हो, तब तक पांडित्य नहीं हो सकता। इस हेतु में विपक्षाद् व्यावृत्ति गुण नहीं है। ऐसा हेतु उपाधि-सहित हेतु कहलाता है। काशी मे रहने के साथ शास्त्राध्ययन उपाधि है। इसी लिये तर्कसंग्रहादि मे व्याप्यत्वासिद्ध को सोपाधिक कहा है। इसके और उदाहरण इस प्रकार से हैं—'पर्वतो धूमवान् वह्नेः'। यज्ञीय हिंसा अधर्म की साधक होती

है, हिंसा होने के कारण। अँगरेजी तर्क मे इस प्रकार के हेत्वाभास को Adicto Sumpliciter adictum secundum quid. कहते हैं। अर्थात् उपाधि सहित वाक्य को निरुपाधिक मानकर अनुमान करना।

(५) कालातीत या बाधित—जिसके साध्य का अभाव दूसरी रीति से प्रमाणित होता है। जैसे अग्नि ठंढी है, द्रव्य होने के कारण। यहाँ पर अग्नि के ठंढे होने का अभाव प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है। यह बाधित का लक्षण हुआ। इस अनुमान के हेतु में अबाधित विषयत्व गुण का अभाव है। प्राचीनों ने इसको कालातीत कहा है। कालातीत की इस प्रकार व्याख्या की गई है—

जब कि हेतु मे ऐसे समय का उल्लेख हो जो पूरा हो चुका हो। जैसे अँधेरे मे रखी हुई किसी वस्तु का रूप या रंग उसके ऊपर दीप का आलोक पड़ने पर प्रकट होता है; किंतु वह रूप-रंग आलोक पड़ने से पूर्व भी था और उसके पश्चात् भी रहेगा। इस उपमान पर कोई ऐसा अनुमान करे कि शब्द ढोल और डंडे के योग से उत्पन्न होता है; इसलिये वह इस योग के पूर्व भी था और पश्चात् भी रहेगा। यहाँ पर शब्द की उत्पत्ति का जो काल बतलाया गया है, वह ठीक नहीं है। शब्द की उत्पत्ति ढोल और डंडे के संयोग के पश्चात् होती है। संयोग का काल अतीत होने पर शब्द की उत्पत्ति होती है; इसलिये यह कालातीत कहलाया। यह उदाहरण

और लक्षण विशेप व्यापकता नहीं रखता। नवीनो का जो लक्षण है, वह अधिक व्यापक है।

न्यायसार में बाधित के छ. प्रकार बतलाए हैं।

ऊपर जिस पद्धति से हेत्वाभासों का वर्णन किया गया है, उसका क्रम नीचे के चक्र मे दिया जाता है—
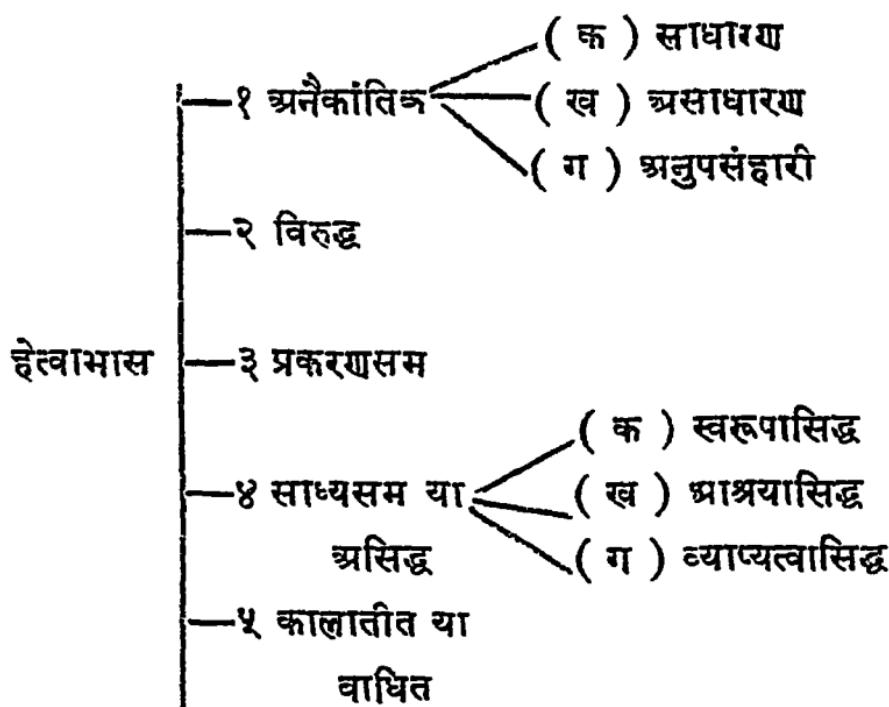
इस स्थान पर इन मूल विभागों का संक्षेप से अंतर बतला देना अनुपयुक्त न होगा।

हेत्वाभासों के भेद पर विचार

(१) अनैकांतिक—जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष तीनो मे रहता हो। विपक्षाद्व्यावृत्तिः। विपक्ष से अलग रहना जो हेतु का गुण है, वह इसमें नहीं है।

(२) विरुद्ध—जो हेतु पक्ष में हो और विपक्ष मे भी हो, पर सपक्ष मे न रहता हो। 'सपक्षे सत्वं' अपने पक्ष मे रहना यह जो हेतु का गुण है, वह इसमे नहीं है।

(३) प्रकरणसम—जिस हेतु का उतना ही बलवान् प्रतिद्वंद्वी हेतु वर्तमान हो। 'असत्प्रतिपक्षत्वं' जो हेतु का लक्षण है, उसका इसमें अभाव है।

(४) असिद्ध—जो हेतु पक्ष संदिग्ध होने से असिद्ध हो। पक्ष धर्मत्व वा पक्षवृत्तित्व जो हेतु का गुण है, इसमे उसका अभाव होता है

(५) बाधित—जो हेतु किसी प्रमाण से बाधित हो, इस मे अबाधित विषयत्व गुण का अभाव है।

अनैकांतिक हेतु व्यभिचारी होने के कारण निश्चयात्मक निगमन का साधक नहीं हो सकता। विरुद्ध साध्य के अभाव का साधक होने से असली साध्य का साधक नहीं हो सकता। अनैकांतिक हेतु द्वारा प्राप्त निगमन संदिग्ध होता है। वह किसी अंश मे सत्य होगा, किसी अंश मे असत्य। जिस अंश मे हेतु सपक्ष मे रहता हो, उस अंश मे निगमन सत्य होगा; और जिस अंश मे हेतु विपक्ष मे रहता हो, उस अंश मे सत्य नहीं होगा। विरुद्ध का निगमन सर्वथा असत्य होगा। प्रकरणसम का निगमन भी अनैकांतिक की भाँति संदिग्ध होता है। भेद इतना ही है कि अनैकातिक में एक ही हेतु व्यभिचारी होने के कारण दो बातें सिद्ध

करता है; और इसलिये इसका निगमन अनिश्चित होता है। प्रकरणसम में दो प्रतिद्वंद्वी हेतु होते हैं और उनके कारण दो प्रतिकूल निगमनों की संभावना होती है। वे निगमन एक दूसरे को रद्द कर देते हैं। अनैकांतिक हेतु से निकलनेवाले निगमन में कोई आवश्यक प्रतिकूलता नहीं होती।

साध्यसम मे पक्षधर्मता का अभाव होता है और ऐसे हेत्वाभासों की व्याप्ति भी दूषित होती है। जो हेतु स्वयं पक्ष मे नहीं रह सकता या जिसका पक्ष ही असंभव है, वह किसी निगमन का साधक नही हो सकता। बाधित, प्रकरणसम और विरुद्ध मे यह भेद है कि प्रकरणसम मे जो प्रतिद्वंद्वी हेतु होते हैं, वह तुल्य बलवाले होते हैं और वह एक दूसरे को संदिग्ध बना देते हैं, परंतु एक दूसरे को काट नहीं सकते। बाधित हेतु ऐसा है जो किसी दूसरे हेतु के आधार पर कट जाता है। इसमे दूसरा हेतु अधिक प्रामाणिक माना जाता है। विरुद्ध हेतु किसी बाहर के हेतु से बाधित नहीं होता, वरन् साध्य के प्रतिकूल होता है।

न्यायसारादि नवीन ग्रंथों मे हेत्वाभासों के अतिरिक्त उदाहरणाभास भी बतलाए हैं। हेत्वाभास की भाँति उदाहरणाभास

उदाहरणाभास

का भी लक्षण दिया गया है। 'उदाहरणलक्षणरहिता उदाहरणवदाभासमाना उदाहरणाभासा।' उदाहरण के लक्षणों से रहित उदाहरण की भाँति दिखाई पडनेवाला उदाहरणाभास कहलाता है। उदा-

हरणाभासों का वर्णन प्रशस्तपाद भाष्य मे आया है। जैन और बौद्ध नैयायिकों ने भी उदाहरणाभासों का वर्णन किया है। प्रशस्तपाद का काल निश्चित न होने के कारण यह कहना कठिन है कि किसने किसका अनुकरण किया। न्याय दर्शन मे उदाहरणाभासों का वर्णन जाति के रूप से किया गया है। साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार के उदाहरण होते हैं। इनके आभास अलग अलग दिए जाते हैं। साधर्म्य उदाहरणो के आभास—

(१) साध्य-विकल—जिसका साध्य उदाहरण मे न रह सके। जैसे मन मूर्त होने के कारण अनित्य है। जो मूर्त है, वह अनित्य है; जैसे परमाणु। अनित्यत्व जो साध्य है, वह परमाणु में नहीं रह सकता। यह सब दूषित व्याप्ति के ही उदाहरण हैं।

(२) साधन-विकल—जिसका हेतु उदाहरण मे न रह सके। जैसे मन अनित्य है, मूर्त होने के कारण। जो मूर्त है, वह अनित्य है; जैसे कर्म। यहाँ पर मूर्तत्व जो हेतु है, वह कर्म मे नहीं रह सकता; अतः कर्म का उदाहरण ठीक नहीं।

(३) उभय-विकल—जिसका साध्य और साधन उदाहरण मे न रह सके। जैसे मन अनित्य है, मूर्त होने के कारण; जैसे आकाश। आकाश न मूर्त है और न अनित्य है। इस उदाहरण में न तो साधन (मूर्तत्व) और न साध्य (अनित्यत्व) रह सकता है।

(४) आश्रयहीन—जो उदाहरण संभव न हो। जैसे मन अनित्य है, मूर्त होने के कारण; खरहे के सींग की भाँति। खरहे को सींग होता ही नहीं, फिर उसका उदाहरण ही क्या!

(५) अव्याप्ति—जहाँ पर साधन और साध्य की पूर्ण व्याप्ति न हो। जैसे मन अनित्य है, मूर्त होने के कारण, घट की भाँति। मूर्तत्व और अनित्यत्व में पूर्ण व्याप्ति नहीं है, क्योंकि सब मूर्त पदार्थ (जैसे परमाणु) अनित्य नहीं हैं।

(६) विपरीत व्याप्ति—जहां पर व्याप्ति उलटो दी गई हो। जैसे मन अनित्य है, क्योंकि वह मूर्त है। जो अनित्य है वह मूर्त है. जैसे घट। व्याप्ति का क्रम इस प्रकार होना चाहिए था—जो मूर्त है, वह अनित्य है। बहुत से अनित्य पदार्थ (जैसे कर्म) मूर्त नहीं होते। फिर साध्य व्यापक होता है और हेतु व्याप्य। यहाँ पर व्याप्य साध्य है और व्यापक हेतु है। अँगरेजी तर्क के भी अनुसार निगमन का विधेय साध्य होता है और उद्देश्य पक्ष होता है। साध्य-विकल, साधन-विकल और आश्रयहीन मे व्याप्ति संभव नहीं; और अव्याप्ति तथा विपरीत व्याप्ति मे व्याप्ति संभव है, किंतु एक स्थान मे पूर्ण व्याप्ति नहीं; और दूसरे मे व्याप्ति का क्रम उलटा है। उदाहरण में साध्य और हेतु की व्याप्ति होती है। साध्य व्यापक और हेतु व्याप्य होता है। साध्य-विकल उदाहरण मे हेतु रह सकता है, परंतु उसके साथ साध्य नहीं रहता। साधन-विकल मे साध्य रह सकता है, साधन नहीं रह सकता। उभय-विकल मे न साध्य ही रह सकता है और न साधन; और आश्रयहीन उदाहरण ही का अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार से वैधर्म्य उदाहरणों के भी छः आभास हैं। इनके अतिरिक्त संदिग्धता के

आधार पर साधर्म्य और वैधर्म्य के चार चार और आभास बतलाए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) संदिग्ध साध्य—जैसे यह बड़ा अच्छा राज्य करेगा, चंद्रवशी होने के कारण; जैसा किसी एक विशेष चंद्रवंशी राजा की भाँति। यहाँ पर राज्य करना भविष्यत् का विषय होने से संदिग्ध है। किसी एक राजा का उदाहरण व्यापक नहीं हो सकता। जो बात किसी व्यक्ति की विशेषता है, वह व्याप्ति का आधार नहीं हो सकती। व्याप्ति का आधार जाति के व्यापक गुण मे ही हो सकता है।

(२) संदिग्ध साधन—जैसे यह मनुष्य सर्वज्ञ नहीं है, रागवान होने के कारण, जैसे कि और कोई व्यक्तिविशेष।

(३) संदिग्धोभयम्—जैसे यह मनुष्य स्वर्ग को जायगा, क्योंकि इसने पुण्य किया है. जैसा देवदत्त ने।

(४) संदिग्धाश्रय—जैसे यह मनुष्य बहुत बोलता है, देवदत्त के पचास वर्ष पश्चात् होनेवाले पुत्र की भाँति।

इसी प्रकार वैधर्म्य उदाहरण के भी संदिग्धता के आधार पर चार और आभास होंगे। इन उदाहरणों के आभासों का इस बात मे महत्त्व है कि इनकी ओर ध्यान रखने से व्याप्ति दूषित न होगी। इसी वास्ते यह अलग रखे गए हैं। यदि ऐसा न होता तो इनमें से सब नहीं तो कुछ अवश्य हेत्वाभासों के अंतर्गत हो सकते हैं। जो हेतु उदाहरण में नहीं रह सकता, वह पक्ष मे भी न रह सकेगा। जो साध्य उदाहरण मे नहीं है,

हेतु उसके अनुकूल नहीं कहा जा सकता। अव्याप्ति अनैकांतिक में आ जायगी। विपरीत व्याप्ति सोपाधिक का ही रूपांतर है। इन उदाहरणाभासों के पक्ष में इतनी ही बात कही जा सकती है कि जब उदाहरणों में व्याप्ति का निश्चय ठीक हो जाय, तभी हेतु के विषय में भी कुछ कहा जा सकता है। वास्तव मे हेतु उदाहरण के ही आधार पर चलता है। ऐसा नहीं हो सकता कि दोनों मे से कोई एक दूषित हो और अनुमान ठीक निकल आवे। अनुमान के पाँचों ही अंगों को निर्दोष होना चाहिए। प्रशस्तपाद भाष्य मे सद् हेतु के लक्षणो के साथ सत् प्रतिज्ञा और सत् उदाहरण के भी लक्षण बतलाए हैं और उनके आधार पर केवल हेत्वाभास और उदाहरणाभास ही नहीं, वरन् प्रतिज्ञाभास और पक्षाभास एवं निगमनाभास भी बन सकते हैं।

प्रशस्तपाद भाष्य मे प्रतिज्ञा को अनुमेय पदार्थ का विरोधरहित कथन बतलाया है और विरोध की व्याख्या करते हुए पाँच प्रकार के विरोध बतलाए है—प्रत्यक्ष विरोध, अनुमान विरोध, आगम विरोध, शास्त्र विरोध और स्ववचन विरोध। यदि किसी प्रतिज्ञा मे कोई एक विरोध होगा तो वह दूषित होगी।

प्रशस्तपाद भाष्य में उदाहरणाभास को निदर्शनाभास बतलाया है। इनके बतलाए हुए निदर्शनाभास न्यायसार के दृष्टांताभासों से कुछ भिन्न हैं। हेत्वाभासों को प्रशस्तपाद भाष्य मे अनपदेश कहा है।

आठवाँ अध्याय

जाति और निग्रहस्थान

न्यायदर्शन में जाति की इस प्रकार से परिभाषा दी गई है—'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः।' (न्या० सू० १-२-१८) केवल साधर्म्य और वैधर्म्य के आधार पर जो प्रत्यवस्थान या खंडन किया जाता है, उसको जाति कहते हैं। निग्रहस्थान की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

जाति की व्याख्या

"विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।"

विपरीत अथवा कुत्सित प्रतिपत्ति (प्रवृत्ति) को विप्रतिपत्ति कहते हैं; और दूसरे के सिद्ध किए हुए पक्ष का खंडन न करना अथवा अपने पक्ष पर लगाए हुए दोष का समाधान न करना अप्रतिपत्ति कहलाता है। दूसरे की बात न समझना या समझकर परवाह न करना भी अप्रतिपत्ति में शामिल है। विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति दोनों ही पराजय का कारण होती हैं।

दूसरे के पक्ष में दोष न बतलाकर उसके विपरीत एक और पक्ष खड़ा कर देने को जाति कहते हैं। यह काम दूसरे के पक्ष मे संदेह डालने के लिये किया जाता है, किंतु इससे अपना पक्ष भी पुष्ट नहीं होता। जातियों द्वारा 'बिल्ली खायगी, नहीं तो लड़का देगी' का न्याय चरितार्थ होता है। जहाँ

सधर्मोदाहरण द्वारा पक्ष के हेतु की पुष्टि की गई हो, वहाँ पर विधर्मी उदाहरण द्वारा पक्ष के हेतु का खंडन कर देना, और जहाँ पर विधर्मी उदाहरण द्वारा हेतु की पुष्टि की गई हो, वहाँ पर सधर्मी उदाहरण द्वारा हेतु को कमजोर कर देना जाति का काम है। केवल सधर्मी और विधर्मी उदाहरणों के कारण जातियाँ दूषित नहीं समझी जातीं। किंतु बात यह है कि जातियों के द्वारा जो सधर्मी या विधर्मी उदाहरण दिए जाते हैं, वे ठीक उदाहरण नहीं होते। समानता मुख्य बात मे होनी चाहिए। जिस गुण की समानता या असमानता के आधार पर पक्ष में उदाहरण दिया गया हो, उसी गुण की समानता या असमानता के आधार पर प्रतिपक्ष मे उदाहरण देना चाहिए। ऐसा न करके और किसी गुण की समानता या असमानता पर सधर्मी या विधर्मी उदाहरण बना लिए जाते हैं। इसलिये जातियाँ दूषित समझी जाती हैं। उदाहरण लीजिए—

आत्मा निष्क्रिय है, आकाश की भाँति व्यापक होने के कारण। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि यदि आकाश की भाँति व्यापक होने के कारण आत्मा निष्क्रिय है, तो घड़े की भांति आधार होने के कारण सक्रिय क्यों नहीं ? पहले तो सभी आधारभूत पदार्थ सक्रिय नहीं होते। और फिर यदि पूर्व पक्ष में दोष वतलाना ही था, तो ऐसे व्यापक पदार्थ का उदाहरण देना चाहिए था जो सक्रिय होता। ऐसा करने से पक्ष का खंडन हो जाता है और खंडनकर्ता दोष का भागी नहीं होता।

जब कोई ठीक उत्तर देने को नहीं होता, तभी जाति का प्रयोग किया जाता है। प्रयोग करनेवाला अपने मन में यह समझता है कि कुछ न कुछ उत्तर दे दिया जाय तो समाज मे उसे मूर्ख न समझेंगे; और संभव है कि वादी भी घबराकर उसका प्रत्युत्तर न दे सके। इस संबंध में न्याय-वार्त्तिककार की राय है—'यदा तु वादी परस्य साधनं साध्विति मन्यते लाभपूजाख्यातिकामश्च भवति तदा जाति प्रयुंक्ते'।

जब वादी दूसरे के साधन को अपने मन में साधु अर्थात् ठीक समझता है और चाहता है कि किसी प्रकार लाभ, पूजा और ख्याति मिले, तब जाति का प्रयोग करता है। जातियों का प्रयोग करना एक प्रकार से डूबते हुए को तिनके का सहारा होता है।

जातियों के प्रकार

न्यायदर्शन मे २४ जातियाँ बतलाई गई हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

'साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसंगप्रतिदृष्टांतानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्य्यसमाः।' (न्या० सू० ५.१.१.)

जातियाँ २४ प्रकार की होती हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) साधर्म्य सम, (२) वैधर्म्य सम, (३) उत्कर्ष सम, (४) अपकर्ष सम, (५) वर्ण्य सम, (६) अवर्ण्य सम, (७) विकल्प सम, (८) साध्य सम, (९) प्राप्ति सम, (१०) अप्राप्ति सम, (११) प्रसंग सम, (१२) प्रतिदृष्टांत सम,

(१३) अनुत्पत्ति सम, (१४) संशय सम, (१५) प्रकरण सम, (१६) हेतु सम, (१७) अर्थापत्ति सम, (१८) अविशेष सम, (१९) उपपत्ति सम, (२०) उपलब्धि सम, (२१) अनुपलब्धि सम, (२२) नित्य सम, (२३) अनित्य सम और (२४) कार्य्य सम।

अब क्रमानुसार इनकी व्याख्या और उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) साधर्म्य सम—जहाँ पर सधर्मी उदाहरण देकर एक दूसरा जवाब का न्याय उपस्थित किया जाय। जैसे कोई कहे कि शब्द अनित्य है, घड़े की भाँति कार्य्य होने के हेतु से। इसके उत्तर में सधर्मी उदाहरण के ही आधार पर एक दूसरी यह युक्ति उपस्थित करे—शब्द नित्य है, आकाश की भाँति अमूर्त होने के कारण।

यह बराबर के जवाब देकर यह सिद्ध करना कि यदि पहली युक्ति ठीक है तो यह भी ठीक होना चाहिए, उचित नहीं है। वास्तव मे यदि खंडन करना था तो ऐसे किसी कार्य्य का उदाहरण देना चाहिए था जो नित्य होता। यह बात तो व्याघातक है। कोई कार्य्य नित्य नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि अमूर्तत्व कार्य्यत्व का बाधक नहीं। तीसरी बात यह है कि अमूर्तत्व के साथ नित्यत्व हमेशा नहीं रहता। अमूर्त पदार्थ (जैसे मनोगत भाव) अनित्य हैं, यह हेतु व्यभिचारी हेतु है—कभी पाया जाता है और कभी नहीं।

(२) वैधर्म्य सम—विधर्मी उदाहरण का विधर्मी उदाहरण से ही खंडन करना। जैसे—शब्द अनित्य है

कार्य्य होने के हेतु।

जो जो अनित्य नहीं है अर्थात् नित्य है, वह कार्य्य नहीं है, आकाश की भाँति।

इसके उत्तर में प्रतिवादी दूसरी युक्ति देकर कहता है कि यदि शब्द अनित्य सिद्ध हो सकता है, तो उसके साथ यह भी सिद्ध हो सकता है कि शब्द नित्य है। शब्द नित्य है

अमूर्त होने के कारण।

जो नित्य नहीं है, वह अमूर्त नहीं है,

जैसे घट।

ऊपर के न्याय में शब्द की अनित्यता आकाश (जो कि अनित्य नहीं है) से वैधर्म्य के सहारे सिद्ध की गई है। नित्यत्व और कार्य्यत्व का योग नहीं हो सकता। इसके उत्तर में जो युक्ति दी गई है, वह भी वैधर्म्य के आधार पर ही दी गई है। शब्द का अमूर्तत्व के कारण घट से वैधर्म्य है। जो बात सधर्मी उदाहरण के संबंध में कही गई थी, वही यहाँ भी कही जाती है। अनित्यता और अमूर्तत्व के अभाव का कोई अविनाभाव संबंध नहीं है। मन, बुद्धि आदि पदार्थ अनित्य हैं, किंतु उनमें अमूर्तत्व का अभाव नहीं है।

(३) उत्कर्ष सम—जब कि उदाहरण के अन्य गुणों का

साध्य के साथ पक्ष मे आरोप करके उसकी असंभावना पर पूर्व युक्ति का खंडन किया जाय, तब उस युक्ति मे उत्कर्ष सम अर्थात् बढ़ाकर समानता बतलाने का दोष होता है।

जैसे यदि कोई कहे—शब्द अनित्य है,
कार्य्य होने से।
जो जो कार्य्य हैं, वह अनित्य हैं,
जैसे घट।

इसके उत्तर मे कोई कहे—

शब्द अनित्य है (और मूर्त)
कार्य्य होने के हेतु।
घड़े की भाँति जो कि अनित्य और मूर्त है।

सब कार्य्यों के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वह अनित्य और मूर्त हैं। हमारे विचार कार्य्य हैं और इस हेतु अनित्य हैं, पर मूर्त नहीं हैं। कार्य्यत्व और अनित्यत्व का अविनाभाव संबंध है, किंतु कार्य्यत्व और मूर्तत्व का नहीं। उदाहरण—

मनुष्य नाशवान् है,
जीवधारी होने के कारण,
जैसे गौ।

यदि इसके उत्तर मे कोई कहे—

मनुष्य नाशवान् है और शृंगवाला है,
जीवधारी होने के कारण,
जैसे गौ।

तो जीवधारी और नाशत्व का अविनाभाव संबंध है। जीवधारी और शृंगवाले होने का अविनाभाव संबंध नहीं है, क्योंकि शश जीवधारी है, किंतु शृंगवाला नहीं है। पक्ष और उदाहरण में समानता होती है, किंतु वह एक ही मुख्य गुण की होती है, सब गुणों की नहीं।

(४) अपकर्ष सम—जहाँ पर उदाहरण के किसी गुण के अभाव का साध्य के साथ पक्ष में आरोप किया जाय और उसकी असंभावना के आधार पर पूर्व युक्ति का खंडन किया जाय तो उसमे अपकर्ष सम दोप अर्थात् कमी के आधार पर समानता का दोष आ जायगा। जैसे यदि कोई कहे—

मनुष्य नाशवान् है,
जीवधारी होने के कारण,
केंचुए की भाँति।

इसके उत्तर में यदि कोई कहे—

मनुष्य नाशवान् और हस्तपाद-शून्य है,
जीवधारी होने के कारण,
केंचुए की भाँति।

तो मनुष्य में हस्तपाद-शून्यता सिद्ध करना एक प्रकार से पूर्व युक्ति में व्याघातकता दिखलाना है। जीवधारी-पन और नाशवान् होने का तो अविनाभाव संबंध है; किंतु जीवधारी-पन और हस्तपादादि-शून्यता का अविनाभाव नहीं है। जैसे सर्प जीवधारी है और हस्तपादादि-शून्य है; किंतु बंदर जीवधारी

है, पर हस्तपादादि-शून्य नहीं। इसमे अविनाभाव संबंध नही लग सकता।

(५) वर्ण्य सम—उदाहरण मे संदेह कर पूर्व युक्ति का खंडन करना। जैसे कोई कहे—

शब्द अनित्य है,
कार्य्य होने के हेतु,
जैसे घट।

इसके उत्तर में कोई कहे—

घट अनित्य है
कार्य्य होने के हेतु;
जैसे शब्द।

पर वादी का कहना है कि यदि शब्द के अनित्यत्व में संदेह है और घट के आधार पर अनित्यत्व सिद्ध किया जाता है तो घट के ही अनित्यत्व में क्या निश्चय है? इससे वादी उदाहरण मे संदेह पैदा कर देता है। ठीक संदेह तभी पैदा होगा जब कोई ऐसा उदाहरण दिया जाय जो व्याप्ति में संदेह डाले। उदाहरण को संदिग्ध कह देने से ही वह संदिग्ध नहीं हो जाता।

(६) अवर्ण्य सम—ऊपर के उदाहरणों मे यदि वादी कहे कि जब घट का अनित्यत्व निश्चित माना जाता है तो शब्द का भी अनित्यत्व क्यों न मान लिया जाय? तो उसके कहने का अभिप्राय यह है कि युक्ति देना ही वृथा है।

जो ऐसा वृथावाद करता है, वह उदाहरण का यथार्थ धर्म नहीं समझता। उदाहरण मात्र से व्याप्ति नहीं स्थापित की जाती। व्याप्ति में व्यभिचार का अभाव भी देखा जाता है।

(७) विकल्प सम—

शब्द अनित्य है,
कार्य्य होने के हेतु;
जैसे घड़ा।

इस युक्ति के उत्तर मे यदि कोई कहे—

शब्द नित्य और अमूर्त है,
कार्य्य होने के हेतु;
जैसे घड़ा अनित्य भी है और मूर्त भी।

और इस युक्ति से पूर्व युक्ति को असिद्ध करे तो उसकी युक्ति विकल्प सम दोष से दूषित कहलावेगी। यह दूसरी युक्ति उदाहरण के वैधर्म्य के आधार पर है। उदाहरण में दो गुण दिखलाए गए हैं और उसके साथ यह बतलाया गया है कि चूँकि पक्ष में एक गुण का अभाव है, अतः दूसरे गुण का भी अभाव होगा। घट में अनित्यत्व और मूर्तत्व का सहचार है, किंतु अन्य स्थानों में नहीं। मन और बुद्धि मे इनका सहचार नहीं है; इसलिये यह दोनों गुणों के सहचार का उदाहरण ठीक नहीं। यदि यह सहचार अव्यभिचारी होता तो वैकल्पिक अनुमान की रीति से एक गुण के अभाव से दूसरे गुण का अभाव सिद्ध हो जाता; किंतु यह विकल्प संभव नहीं है।

(८) साध्य सम—जहाँ पर पक्ष और उदाहरण को अन्योन्याश्रय बतलाया जाय, उस स्थिति का नाम साध्य सम है। यह वर्ण्य सम और अवर्ण्य सम से मिलती जुलती स्थिति है। इसमें उदाहरण पक्ष से अधिक निश्चित होता है। उसकी सिद्धि पूर्व निरीक्षणों द्वारा हो जाती है।

(९, १०) प्राप्ति सम और अप्राप्ति सम—जहाँ पर हेतु और साध्य के सहचार या व्यतिरेक पर आश्रित युक्ति के खंडन में उसी सहचार या व्यतिरेक पर दूसरी ऐसी युक्ति उपस्थित की जाय जिसमें साध्य हेतु कर दिया जाय और हेतु साध्य कर दिया जाय तो ऐसी युक्ति को, यदि वह सहचार के आधार पर हो तो, प्राप्ति सम कहा जाता है; और यदि व्यतिरेक के आधार पर हो तो, अप्राप्ति सम कहा जाता है।

जैसे—यदि कोई कहे—

पर्वत अग्निमान् है,
धूमवान् होने के कारण,
रसोईं-घर की भाँति।

इसके उत्तर मे यदि कोई कहे—

पर्वत मे धूआँ है,
क्योंकि उसमे अग्नि है;
जैसे रसोईं-घर में।

तो प्राप्ति सम का दोष आ जायगा। यद्यपि धूम और अग्नि का सहचार है, तथापि यह नहीं कह सकते कि जहाँ जहाँ अग्नि

है, वहाँ वहाँ धूआँ भी है। दो गुण एक आधार में रह सकते हैं, किंतु इससे यह अभिप्राय नहीं कि दोनों की व्याप्ति बराबर है। फिर उदाहरण मे हेतु और साध्य निश्चित रूप से पाया जाता है। पक्ष में हेतु देखा जाता है और उस हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि की जाती है। जहाँ पर दो सहचारी गुणों की बराबर व्याप्ति होती है, वहा पर चाहे जिस एक को दूसरे का लिंग मान सकते हैं; और जहाँ पर बराबर व्याप्ति नहीं है, वहाँ पर व्याप्य लिंग कहा जायगा और व्यापक साध्य कहा जायगा। धूम से अग्नि का अनुमान हो सकता है; पर अग्नि से धूम का अनुमान नहीं हो सकता। इस प्रकार की अयुक्त बात कहकर दूसरे की बात में दोष दिखलाना अनुचित है।

(११) प्रसंग सम—जहा पर उदाहरण की सत्यता में शंका करके उदाहरण के लिये प्रमाण माँगा जाय और फिर उस प्रमाण के लिये प्रमाण मांगकर अनवस्था उत्पन्न कर दी जाय तो उसको प्रसंग सम कहते हैं।

जैसे कोई कहे—

शब्द अनित्य है,
कार्य्य होने के हेतु से;
जैसे घट।

और इसके उत्तर मे प्रतिवादी कहने लगे कि घट का अनित्यत्व ही कहाँ सिद्ध है। जो उदाहरण दिया जाता है, वह ऐसा होता है जिसके विषय मे प्रायः मतभेद नहीं होता।

उदाहरण के आधार पर अनुमान नहीं किया जाता, वरन् उस व्यापक नियम के आधार पर किया जाता है जो उस उदाहरण में पाया जाता है।

(१२) प्रतिदृष्टांत सम—जहाँ एक उदाहरण की जगह दूसरा उदाहरण देकर एक प्रतिकूल युक्ति खड़ी करके पहली युक्ति का खंडन किया जाय। जैसे, यदि कोई कहे—शब्द अनित्य है, कार्य्य होने से, घट की भाँति। और उसके उत्तर मे कोई कहे कि घट का उदाहरण क्यों लिया जाता है? आकाश का क्यों नहीं लिया जाता? और जब आकाश के उदाहरण को ठीक हेतु के अभाव के कारण स्वीकार न किया जाय, तो उत्तर मे कहा जाय कि जैसे आकाश का उदाहरण स्वीकार नही किया गया, वैसे ही घट का उदाहरण भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। ऐसा उत्तर प्रतिदृष्टांत सम कहलावेगा।

उदाहरण का अर्थ कोई उदाहरण नहीं होता। उदाहरण वही है जिसमे हेतु और साध्य का व्याप्य व्यापक संबंध हो सके। किंतु जिसमें साध्य (अनित्यत्व) और हेतु (कार्य्यत्व) दोनों ही न रह सकें तो वह उदाहरण कैसा? जो लोग उदाहरणाभास मानते हैं, वह लोग ऐसे उदाहरण को उभय-विकल कहेंगे।

(१३) अनुत्पत्ति सम—जब किसी गुण की किसी काल में उत्पत्ति के न होने के कारण उस गुण का अभाव

बतलाकर वादी की युक्ति का खंडन किया जाय तो ऐसे उत्तर को अनुत्पत्ति सम कहेंगे।

जैसे, यदि कोई कहे—

शब्द अनित्य है,

प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण;

और इस पर प्रतिवादी कहे कि उत्पत्ति से पूर्व यह गुण शब्द में कहाँ और कैसे रहता होगा? इसलिये यह उसकी अनित्यता में हेतु नहीं हो सकता। यह उत्तर ठीक नहीं। यद्यपि उत्पत्ति से पहले यह गुण शब्द में नहीं था, तथापि उत्पन्न हुए शब्द में तो यह गुण है; और उत्पन्न हुए शब्द के विषय में ही युक्ति की जाती है।

(१४) संशय सम—जब एक और हेतु देकर प्रतिवादी प्रतिकूल युक्ति द्वारा वादी को संदेह में डाल दे, तब उस अवस्था को संशय सम कहेंगे। जैसे यदि कोई कहे—शब्द अनित्य है, घटवत् प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण। और इसके उत्तर में प्रतिवादी कहे कि शब्द नित्य है, क्योंकि इंद्रिय-ग्राह्य है; जैसे सामान्य। तो यह उत्तर ठीक नहीं; क्योंकि सामान्य जिस प्रकार इंद्रिय-ग्राह्य है, शब्द उस प्रकार नहीं है। सामान्य संयुक्त समवेत समवाय संबंध से इंद्रिय-ग्राह्य होता है और शब्द समवाय संबंध से।

(१५) प्रकरण सम—एक ही वस्तु के संबंध में जब दो बातें सिद्ध कर दी जायँ, तब ऐसी अवस्था को प्रकरण सम

कहते हैं। जैसे यदि कोई कहे कि शब्द अनित्य है, क्योंकि घटवत् प्रयत्न से उत्पन्न होता है; 'और इसके उत्तर मे प्रतिवादी कहे कि शब्द नित्य है, क्योंकि उसके अवयव नहीं हैं; जैसे आकाश।

(१६) हेतु सम—जहाँ हेतु की तीनों कालों में असिद्धि बतलाकर वादी की युक्ति का खंडन किया जाय, वहाँ उस असत् उत्तर को हेतु सम कहेंगे। हेतु का इस प्रकार खंडन किया जाता है। हेतु साध्य से पहले नहीं रह सकता, क्योंकि जब तक साध्य को सिद्ध न कर सके, तब तक हेतु ही काहे का, और पीछे होने से लाभ ही क्या? और यदि साथ रहे तो किसको हेतु कहेंगे और किसको साध्य? यह हेतु, साध्य और पक्ष के ठीक अर्थ न समझने के कारण होता है।

(१७) अर्थापत्ति सम—किसी बात का अर्थापत्ति से उत्तर देना अर्थापत्ति सम कहलाता है। जैसे,

शब्द अनित्य है,
कार्य्य होने से;
घट की भाँति।

इसके उत्तर मे कोई कहे कि यदि घट की समानता से अनित्य है, तो आकाश की समानता से नित्य माना जाना चाहिए। अमूर्तत्व के कारण आकाश की समानता बतलाई गई है; किंतु अमूर्तत्व नित्यत्व का हेतु नहीं हो सकता; क्योंकि वह नित्य और अनित्य (जैसे बुद्धि आदि) पदार्थों में पाया जाता है।

(१८) अविशेष सम—अविशेषता के आधार पर उत्तर देने को अविशेष सम कहते हैं। जैसे कोई कहे कि यदि घट और शब्द की कार्य्यत्व मे समानता होने के कारण अनित्यत्व मे भी समानता मानी गई है, तो सभी पदार्थों में समानता मानी जानी चाहिए; क्योंकि सब में सतगुण तो लगा ही हुआ है। ऐसा कहना दूषित होगा। संसार भर में भेद और अभेद लगा हुआ है। सब पदार्थ एक से होते हुए भी भिन्न हैं।

(१९) उपपत्ति सम—एक उपपत्ति के उत्तर में दूसरी उपपत्ति देने को उपपत्ति सम कहते हैं। दूसरा सबूत देकर प्रतिवादी यह सिद्ध करना चाहता है कि जब दोनों ठीक नहीं हो सकते तो उसी को क्यों न गलत माना जाय। शब्द के अमूर्तत्व के आधार पर जो उसकी नित्यता सिद्ध की जाती है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि अमूर्तत्व नित्य और अनित्य दोनों पदार्थों में पाया जाता है।

(२०) उपलब्धि सम—प्रतिवादी को यह बतलाकर कि निर्दिष्ट हेतु के अभाव में भी साध्य का साधन हो जाता है, हेतु की अनावश्यकता बतलाना उपलब्धि सम उत्तर कहलावेगा। जैसे यदि कोई कहे कि 'शब्द अनित्य है, प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण' और इसके उत्तर में कहा जाय कि शब्द बिना प्रयत्न के शाखादि के टूटने, वायु के संचार और लकड़ी आदि के चटकने से भी उत्पन्न हो जाता है, तो फिर यह

हेतु आवश्यक न रहा। ऐसा उत्तर उपलब्धि सम कहलावेगा। यदि दूसरे हेतु से भी वही बात सिद्ध हो जाय तो पहला हेतु अनुपयोगी ठहरेगा।

(२१) अनुपलब्धि सम—किसी चीज की अनुपलब्धि द्वारा उसका अभाव सिद्ध करने पर यदि प्रतिवादी उसके उत्तर मे अनुपलब्धि की अनुपलब्धि बतलाकर वादी की युक्ति को असिद्ध करे तो इस प्रकार का उत्तर अनुपलब्धि सम कहलावेगा। जैसे शब्द की अनित्यता में नीचे की युक्ति देने पर—

"प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेः।"

अर्थात् शब्द अनित्य है, क्योंकि उत्पत्ति के पहले नहीं दिखलाई देता; और यदि कहा जाय कि किसी आवरणादि के कारण उच्चारण के पूर्व नहीं दिखाई देता, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वह आवरण भी नहीं दिखाई पड़ता। इसके उत्तर से यदि कोई कहे—"तदनुलब्धेरनुपलब्धादावरणोपलब्धिः, अर्थात् आवरण है; क्योंकि उसकी अनुपलब्धि की उपलब्धि नही होती।" तो ऐसे उत्तर को अनुपलब्धि सम कहेंगे। यह ठीक नहीं है। अनुपलब्धि की उपलब्धि हमको अपने ज्ञान में हो जाती है। हम को यह निश्चित ज्ञान हो जाता है कि अमुक वस्तु का यहाँ पर अभाव है।

(२२) अनित्य सम—समानता के आधार पर सब पदार्थों को अनित्य सिद्ध करके एक प्रकार की असंभव स्थिति बतलाना अनित्य सम उत्तर कहलाता है। जैसे कोई कहे

कि यदि घट के कार्य्यत्व की समानता के कारण शब्द को अनित्य मानें, तो अभिधेयत्व की समानता के कारण सभी पदार्थों में अनित्यत्व मानना चाहिए; और चूँकि ऐसा मानना असंभव है; अत: घट की समानता के कारण शब्द मे भी अनित्यत्व मानना ठीक नहीं। ऐसा उत्तर देना अयुक्त होगा। केवल समानता के आधार पर कुछ नहीं सिद्ध होता; क्योंकि विपरीत चीजों में भी कुछ न कुछ समानता होती है।

(२३) नित्य सम—शब्द के अनित्यत्व मे नित्यत्व बतला कर उत्तर देना नित्य सम कहलाता है। जैसे कोई शब्द के अनित्यत्व का खंडन करते हुए कहे कि यह अनित्यता शब्द में हमेशा से है या हमेशा से नहीं है। यदि हमेशा से है तो शब्द को भी नित्य होना चाहिए; क्योंकि जब तक शब्द नित्य न होगा, तब तक उसका गुण किस प्रकार नित्य हो सकता है? और यदि यह गुण नित्य नहीं तो आवश्यक नहीं; और इससे अनित्यता की असिद्धि हुई। इस उभयतोपाश के बदले में दूसरा उभयतोपाश उपस्थित किया जा सकता है। यदि शब्द की अनित्यता अनित्य है, तो दोहरी अनित्यता हुई; और यदि नित्य है तो निश्चयात्मक अनित्यता हुई।

(२४) कार्य्य सम—यदि कोई कार्य्य के भेदों के आधार पर वादी की युक्ति का खंडन करे तो ऐसे असदुत्तर को कार्य्य सम कहेंगे। जैसे यदि कोई कहे कि शब्द अनित्य है, कार्य्य होने के कारण; और उसके उत्तर में यदि प्रतिवादी प्रश्न

उठावे कि कार्य्य दो प्रकार का होता है; एक किसी वस्तु को प्रागभाव से भाव में लाना; जैसे घट का बनाना; और एक अव्यक्त को व्यक्त करना; जैसे बादाम के भीतर की मींगो को निकाल देना। यदि शब्द पहले प्रकार का कार्य्य है तो अनित्य है ही; और यदि दूसरे प्रकार का कार्य्य है तो अनित्य नहीं हो सकता। इससे वादी की युक्ति में संदेह पड़ गया। यह उत्तर ठीक नहीं; क्योंकि जिस प्रकार के कार्य्य का उदाहरण दिया जाता है, उसी प्रकार का कार्य्य समझा जायगा।

निग्रहस्थान

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यून-मधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभाविक्षेपो मतानुज्ञा-पर्य्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धांतो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि।

प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञांतर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वंतर, अर्थांतर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्त-काल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्य्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अप-सिद्धांत और हेत्वाभास ये २२ निग्रहस्थान हैं।

निग्रहस्थान 'हार' या पराजय के स्थान को कहते हैं। यह अपराधों के अधिकरण माने गए हैं। "निग्रहस्थानानि खलु पराजयवस्तून्यपराधाधिकरणानि"।—वात्स्यायन भाष्य।

(१) प्रतिज्ञाहानि—यदि कोई साध्यधर्म के विरुद्ध धर्म द्वारा प्रतिषेध करे, और उसके उत्तर मे वादी अपने दृष्टांत मे प्रति-दृष्टांत के धर्म को माने तो वह प्रतिज्ञा-हानि अर्थात् प्रतिज्ञा छोड़ने के दोष का भागी होता है। जैसे कोई कहे कि—"शब्द अनित्य है, इंद्रिय का विषय होने के कारण, घटवत्"। और इसके उत्तर मे प्रतिवादी यह बतलावे कि जब घटत्व जाति इंद्रिय का विषय होने पर भी नित्य है, तो शब्द भी नित्य होगा। ऐसा कहने पर यदि वादी घट मे अनित्यता धर्म को छोडकर घटत्व (जो कि प्रतिदृष्टांत है) का नित्यत्व धर्म मान ले, तो वह पक्ष से गिर जायगा और अपनी प्रतिज्ञा सिद्ध न कर सकेगा। वह अपने पक्ष को छोड़कर प्रतिवादी का ही पक्ष अर्थात् शब्द की नित्यता सिद्ध करेगा। जो इंद्रिय का विषय है, वह नित्य है; जैसे घट। शब्द इंद्रिय का विषय है, अतः शब्द नित्य है।

निग्रहस्थानों के प्रकार

(२) प्रतिज्ञांतर—जब कोई प्रतिज्ञा किए हुए पदार्थ का प्रतिषेध होने पर दृष्टांत और प्रतिदृष्टांत को दूसरा स्वरूप देने से अपनी प्रतिज्ञा का रूप बदल दे, तो उसका ऐसा करना प्रतिज्ञांतर अर्थात् प्रतिज्ञा का बदलना कहलावेगा और वह निग्रह अर्थात् डाँट फटकार का पात्र बन जायगा।

जैसे यदि कोई कहे कि शब्द अनित्य है, इंद्रिय का विषय होने के कारण, घटवत्; और इसके प्रतिषेध या खंडन में कोई कहे कि शब्द घटत्वादि जाति की भाँति इंद्रिय का विषय होने से

नित्य है। इसके प्रत्युत्तर में यदि पूर्व वक्ता यह कहे कि यद्यपि घट और घटत्व दोनों इंद्रिय का विषय हैं, तथापि वह एक नहीं, क्योंकि घट एकदेशी है और घटत्व व्यापक या सर्वदेशी है; इसलिये शब्द, जिसकी घट से समानता की जाती है, असर्व-देशी रूप से अनित्य है। उसको यह सिद्ध करना था कि शब्द अनित्य है। उसके स्थान मे उसने यह सिद्ध किया कि शब्द असर्वदेशी रूप से अनित्य है। यही प्रतिज्ञा का बदलना है।

(३) प्रतिज्ञा-विरोध—जो हेतु पेश किया जाय, वह ऐसा हो कि साध्य के विरुद्ध पड़े। जैसे संसार नित्य है, क्योंकि ईश्वर का बनाया हुआ है।

(४) प्रतिज्ञासंन्यास—अपने सिद्धांत को कहकर उसमें प्रतिपक्षी द्वारा दोष दिखाए जाने पर छोड़ देना। जैसे—

वादी—शब्द अनित्य है, क्योंकि इंद्रिय-ग्राह्य है।

प्रतिवादी—सामान्य भी तो इंद्रिय-ग्राह्य है, पर वह नित्य है।

वादी—हमारा कब यह कहना है कि शब्द अनित्य है।

ग़लती मान लेना बुरा नहीं; पर पहले से ऐसी बात कहना जिसका पीछे से समर्थन न हो सके, ठीक नहीं।

(५) हेत्वंतर—जब साधारण रूप से कहे हुए हेतु मे दोष दिखाए जाने पर उस हेतु को विशेषण सहित बना दिया जाय तो उस युक्ति में हेत्वंतर नाम का दोष आ जायगा। जैसे—

यदि कोई कहे कि शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होने से; प्रतिवादी इसके उत्तर मे कहता है कि घटत्व इन्द्रिय-ग्राह्य है

और अनित्य नहीं है; इसके प्रत्युत्तर में यदि वादी कहे कि इन्द्रियग्राह्य से अर्थ जाति रूप से इन्द्रिय-ग्राह्य का है, तो वह हेतु को बदल देता है और निग्रह का पात्र बनता है।

(६) अर्थांतर—जो बात सिद्ध करना हो, उसके अतिरिक्त और कुछ अनर्गल भाषण करना। जैसे—

किसी ने कहा—शब्द नित्य है; स्पर्श के अयोग्य होने से।

इसका उत्तर ठीक तौर से न देकर कोई हेतु शब्द की व्युत्पत्ति देने लगे या शब्द की व्याख्या करने लगे तो वह दोषी होगा।

(७) निरर्थक—अर्थशून्य और बिना मतलब के शब्दों का प्रयोग करना; जैसे, शब्द नित्य है, क्योंकि अर्थापत्ति प्रकरण सम अलंकार है, गुरुत्वाकर्षण की भाँति।

(८) अविज्ञातार्थ—वादी के कथन का अर्थ, वाक्यों के विस्तार या शब्दों के काठिन्य या दूषित संघटन या शीघ्र उच्चारण के कारण प्रतिवादी या किसी सभासद की समझ में न आवे, तो वह वादी दोष का भागी होगा। बहुत से धूर्त लोग अपना पांडित्य जताने के लिये रटी हुई न्याय की फक्किकाएँ कहने लगते हैं। ऐसा कहना न्याय की दृष्टि में दूषित है।

(९) अपार्थक—जहाँ अनेक पदों या वाक्यों के पूर्वापर क्रम से अन्वय न हो सकने के कारण समुदाय के अर्थ की हानि हो, वहाँ अपार्थक नाम का निग्रह स्थान कहा जायगा। जैसे बीस रुपए चार मन चावलों से सोलह कोस दूर होने के कारण दुष्प्राप्य हैं।

(१०) अप्राप्तकाल—किसी बात को ठीक समय पर न कहना; जैसे अनुमान के अवयवों को क्रम से न रखकर उलट पलट कर देना अप्राप्तकाल नाम का निग्रह स्थान कहलाता है। जैसे घटवत् जिन जिन वस्तुओं का किसी काल विशेष मे उदय होता है, वह अनित्य हैं; शब्द अनित्य है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति काल विशेष मे होती है।

(११) न्यून—अनुमानों के पाँच अवयवों में से अगर कोई अवयव छोड़ दिया जाय तो न्यून नाम का निग्रह स्थान होगा।

(१२) अधिक—आवश्यक अवयवों से अधिक अवयवों का प्रयोग करना दोष है। यह दोष अधिक नाम का निग्रह स्थान कहलाता है।

(१३) पुनरुक्त—जो बात एक बार कह दी गई हो, उसी को विना किसी प्रयोजन के दोहराना पुनरुक्त नाम का निग्रह स्थान है। दोबारा उसी बात को दोहराना इस बात का सबूत है कि वादी या प्रतिवादी को और कुछ नहीं कहना है। जब बात किसी प्रयोजन से दोहराई जाती है, तब ऐसी पुनरुक्ति को 'अनुवाद' कहते हैं। प्रतिज्ञा का निगमन मे दोहराना पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि वह इस मतलब से दोहराई जाती है कि जो बात हमने सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की थी, वह अनुमान से वैसी ही सिद्ध हो गई। शब्द-पुनरुक्ति दूषित नहीं, अर्थ-पुनरुक्ति दूषित है।

(१४) अननुभाषण—सभासदों ने जिस अर्थ को जान लिया ऐसे अर्थ के वादी द्वारा तीन बार कहे जाने पर भी यदि प्रति-

वादी चुप रहे तो वह दोषी समझा जायगा। (यहाँ पर सभासद से उस विषय के ज्ञाता विद्वानों का अभिप्राय है, मूर्खों का नहीं।)

(१५) अज्ञान—वादी की बात को यदि सभासद समझ ले और प्रतिवादी न समझ सके तो प्रतिवादी निग्रह का भागी है। जहा पर सभासद भी न समझें, वहाँ पर वादी दूषित समझा जाता है।

(१६) अप्रतिभा—वादो के पक्ष को समझकर यदि उसका कोई उत्तर न सूझे तो वह अप्रतिभा नाम का दोष है।

(१७) विक्षेप—जहाँ कार्य के बहाने से कथा का विच्छेद किया जाता है, उसे विक्षेप नाम का निग्रहस्थान कहते हैं। जैसे—जहाँ कोई उत्तर न बन सके, वहाँ यह कह देना कि अभी मुझे काम है। फिर किसी और अवसर पर उत्तर दिया जायगा। ऐसा कहना अपनी न्यूनता का द्योतक है।

(१८) मतानुज्ञा—जो दूसरे के बताए हुए दोष को स्वयं स्वीकार करके दूसरे में भी वही दोप बतलाता है, वह मतानुज्ञा नाम के निग्रहस्थान का पात्र बन जाता है। किसी दूसरे में दोप बतलाना अपने दोष की शुद्धि नहीं करता। वाद मे जो लोग अपने कथन का समर्थन करने में असमर्थ रहते हैं, वह विजयी नहीं कहे जा सकते। दूसरे के मत मे वही दोप निकाल देना अधिक से अधिक यह सिद्ध करता है कि वादी और प्रतिवादी दोनों ही दोषी हैं। ऐसे समय मे सत्य का कुछ निर्णय नहीं होता।

(१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण—जो निग्रहस्थान का दोषी हो, उसे उसका दोप न बतलाना भी एक प्रकार का निग्रह स्थान है। यद्यपि यह बात शील के विरुद्ध है कि दोपी का दोष बतलाया जाय,' तथापि सत्य की खोज में यह बात आवश्यक है कि जहाँ दोष हो, वहाँ वह दोष बतला दिया जाय। ऐसा न करने से सुननेवालों पर बुरा असर पड़ता है।

(२०) निरनुयोज्यानुयोग—ऊपर के विपरीत जहाँ पर निग्रहस्थान नहीं, वहाँ पर निग्रहस्थान बता देना स्वयं एक निग्रहस्थान है। जिस प्रकार दोषी को दूषित न ठहराना दोष है, उसी प्रकार निर्दोष को दोषी बतलाना भी दोष है।

(२१) अपसिद्धांत—सिद्धात का अवलंबन करके शास्त्रार्थ करना और फिर उसको बीच मे से छोड़कर उसके प्रतिकूल कोई बात कहना अपसिद्धांत नामक निग्रहस्थान है। जैसे यदि कोई सांख्य शास्त्र का माननेवाला ऐसी बात कहे जो आरंभवाद के अनुकूल हो, तो वह निग्रह का भागी होगा; क्योंकि सांख्य परिणामवाद को मानता है। सांख्य के मत से असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

(२२) हेत्वाभास—अपनी युक्ति में हेत्वाभासो का प्रयोग करना भी निग्रहस्थान है। हेत्वाभासों का वर्णन पिछले अध्याय में दिया जा चुका है।

परिशिष्ट (क)

न्याय शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास

न्याय विद्या वेद के उपांगों में मानी गई है। यह विद्या बहुत प्राचीन है। प्राचीन काल मे इसको आन्वीक्षिकी के नाम से पुकारते थे। तर्क विद्या, हेतु विद्या, वाद विद्या आदि भी इसके और नाम हैं। तर्क शब्द का उल्लेख उपनिषदों मे भी आया है।

तैतरेय आरण्यक में न्याय शास्त्र के माने हुए प्रमाण बीज रूप से वर्त्तमान हैं। "स्मृति प्रत्यक्षमैतिह्यम् अनुमान-चतुष्टयम्"। मैत्र्युपनिषद में भी लिखा है—"न विना प्रमाणेन प्रमेयस्योपलब्धिः"। उपनिषदों मे ऐसी परिषदों* का उल्लेख आया है जिनमे आध्यात्मिक विवेचन किया जाता था और उसके संबंध में नाना प्रकार के वाद विवाद होते थे। क्रमशः इन वाद विवादों के नियम भी बनने लगे। किंतु यह नियम अध्यात्म विद्या से स्वतंत्र न थे। आन्वीक्षिकी मे अध्यात्म विद्या और तर्क विद्या दोनों ही सम्मिलित थीं।

देवी पुराण में आन्वीक्षिकी विद्या की इस प्रकार व्याख्या की है—

---

* श्वेतकेतुर्हं आरुणेय पांचालाना परिषदमाजगाम।

बृहदारण्यक ६-२-१

"आत्मवेदनशीलत्वादन्वीक्षणपराथवा ।
अन्वीक्षणकरत्वाद्वा तस्मादान्वीक्षिकी स्मृता" ॥

कामन्दक में आन्वीक्षिकी की इस प्रकार व्याख्या की है—

"आन्वीक्षिक्याऽऽत्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयी स्थितौ ।
अर्थानर्थौ च वार्तायां दण्डनीतौ नयानयौ ॥"

यहाँ पर यह बतला देना आवश्यक है कि आन्वीक्षिकी कोरी आत्मविद्या ही न थी, वरन् उसमें न्याय और तर्क भी मिला हुआ था। देखिए—

महाभारत में आन्वीक्षिकी और तर्क विद्या की एकता की है।

अहमासं पण्डितको हेतुको वेदनिंदकः ।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थकम् ॥

महाभारत मे लिखा है कि व्यासजी ने आन्वीक्षिकी के आधार पर उपनिषदों का मंथन किया है। इससे प्रकट होता है कि आन्वीक्षिकी में केवल ज्ञान ही नहीं वरन् शास्त्रों के मंथन या विचार के नियम भी हैं।

तत्रोपनिषदं तात परिशेषं तु पार्थिव ।
मथ्नामि मनसा तात दृष्ट्वा चान्वीक्षिकीं पराम् ॥

जयंत आदि प्राचीन आचार्यों का भी यही मत है कि आन्वीक्षिकी और न्यायविद्या एक ही है।

"इयमेवान्वीक्षिकी चतसृणां विद्यानां मध्ये न्यायविद्या गण्यते आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वतीति ।

प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षाऽनुमानमित्यर्थः तद्-व्युत्पादकं शास्त्रमान्वीक्षिकम्"। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि विष्णु भगवान् के छठे अवतार अत्रेय वंश के दत्तात्रेय ने, जो कपिल के पश्चात् हुए हैं, आन्वीक्षिकी विद्या अलर्क और प्रह्लाद को बताई।

"पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुर मे सांख्य तत्त्वग्राम विनिर्णयम्॥
षष्ठे अत्रेरपत्यत्वं वृत्तः प्राप्तोऽनसूयया।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य उचिवान॥"

आचार्य सतीशचंद्र विद्याभूषण ने दत्तात्रेय के अतिरिक्त पुनर्वसु आत्रेय, सुलभा, अष्टावक्र, नारद और मेधातिथि गौतम को भी इस विद्या का आचार्य माना है।

आचार्यजी ने मेधातिथि गौतम और न्यायसूत्रों के कर्त्ता गौतम को भिन्न माना है। उन्होंने मेधातिथि गौतम को आन्वीक्षिकी का आचार्य माना है और गौतम को न्याय का। यह विषय विवादग्रस्त है। इसकी अन्यत्र विवेचना की जायगी। विकास के नियम के अनुसार न्यायशास्त्र का इति-हास उसका अध्यात्म विद्या से स्वतंत्र होकर शुद्ध तर्क में विशेषी-करण होना है। ज्ञान का जैसे जैसे विकास होता है, वैसे ही वैसे उसकी शाखा प्रशाखाएँ स्वतंत्र होकर विशिष्ट होती जाती हैं। इसी प्रकार न्यायशास्त्र के विकास में तर्कविद्या ने स्वतंत्र होकर एक विशिष्ट रूप धारण किया है। जो सभाओं और

परिषदों के वाद विवाद के नियम थे, वह प्रमाण के रूप में आत्मादि प्रमेयों के साथ सुव्यवस्थित होकर सूत्र के रूप में आ गए। सूत्र का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्र सूत्रं विदोविदुः ॥"

तर्क से विशेष संबंध रखनेवाले सूत्र न्याय और वैशेषिक सूत्र हैं। इनमें प्रमाण और प्रमेय दोनों का ही वर्णन है। न्याय के कर्त्ता गौतम और वैशेषिक के कर्त्ता कणाद हैं।

कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै ॥

(पद्म पुराण)

यह बात विवादग्रस्त है कि वैशेषिक सूत्र पहले लिखे गए या न्यायसूत्र। दर्शनों की गणना में प्रायः वैशेषिक का नाम पहले आता है।

न्याय और वैशेषिक के आध्यात्मिक सिद्धान्त मिलते जुलते हैं। न्याय में तर्क के सिद्धांतों का विस्तृत रूप से वर्णन है। वैशेषिक में अनुमान का पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट करके विभाग नहीं किया गया है। वैशेषिक में तीन ही हेत्वाभास माने हैं, न्याय ने पाँच। इससे भी न्यायशास्त्र वैशेषिक से पीछे का माना गया है। सूत्र-काल ई० पू० ६०० से माना गया है।

सूत्र ग्रंथों के पश्चात् उनके भाष्य और वार्तिक लिखे गए। उनमें तर्क के सिद्धांतों ने पूर्ण विस्तार पाया। जो

वैशेषिक मत कहा जाता है; वह अधिकांश प्रशस्तपाद का मत है। प्रशस्तपाद का भाष्य पूरे दर्शन पर प्रकरणवार है, सूत्रवार नहीं है। न्यायशास्त्र पर प्रथम भाष्य वात्स्यायन मुनि का है। इन भाष्यों और वृत्तियों और उनके कर्त्ताओं के नाम आगे साहित्य-सूची मे दिए गए हैं।

इसके पश्चात् जैन और बौद्ध न्याय का प्रचार हुआ। जैन और बौद्ध न्याय मे प्रमाण का विषय अध्यात्म विद्या से स्वतंत्र हो गया और तर्क शास्त्र वाद विद्या से विचार विद्या मे परिणत हो गया।

यद्यपि प्रशस्तपाद वात्स्यायन और उद्योतकराचार्य के लेखों मे अनुमान की रीति के अतिरिक्त अनुमान के आधार का भी विवेचन किया गया है, तथापि यह बात माननी होगी कि बौद्धों ने तर्क विद्या की बहुत उन्नति की। आचार्य दिङ्नाग के विषय मे यह जनश्रुति है कि जब वह अपना प्रमाण समुच्चय ग्रंथ लिख रहे थे, तब उनको एक ब्राह्मण ने, जिसको उन्होंने शास्त्रार्थ मे हराया था, धोखा दिया था। इससे निराश होकर उन्होंने ग्रंथ लिखने से विराम किया। उस समय बोधिसत्व आर्य मंजुश्री ने प्रकट होकर आचार्य से कहा—बेटा, इस संकल्प को छोड़ दो। जब तक तुम पूर्णता को न प्राप्त होगे, तब तक मैं तुम्हारा धर्म गुरु रहूँगा। भविष्य मे यह शास्त्र सब शास्त्रों का नेत्र होगा।

यह जनश्रुति सच हो या झूठ, पर इस बात की द्योतक है कि तर्कशास्त्र का बौद्ध धर्म में बड़ा महत्त्व था। कुछ काल

तक बौद्ध और हिंदू न्यायग्रंथों में परस्पर खण्डन मण्डन के साथ न्यायसिद्धांतों की वृद्धि होती रही। बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ बौद्ध न्यायग्रंथों का भी ह्रास हो गया; यहाँ तक कि अब वह ग्रंथ संस्कृत मे उपलब्ध नहीं है। उनके विषयों की जो हमारी जानकारी है, वह या तो उन अवतरणों से है जो हिंदू ग्रंथों मे उनका खण्डन करते हुए दिए गए हैं, अथवा उनके तिब्बती भाषा के अनुवादों के पुनरनुवादों से।

बौद्ध न्यायग्रंथों के ह्रास के पश्चात् प्रकरण ग्रंथों का उदय हुआ। इन ग्रंथों मे प्रमाणो का प्रमेय से बिल्कुल विच्छेद हो गया। ये ग्रंथ न्याय वैशेषिक मत के आधार पर लिखे गए हैं। कुछ ग्रन्थों मे न्याय मत की प्रधानता कही गई है, कुछ मे वैशेषिक की और कुछ में दोनों की। इन प्रकरण ग्रंथों में एक प्रमाण पदार्थ पर ही ज़ोर दिया गया है; और सब पदार्थ या तो प्रमाण के अंतर्गत कर दिए गए हैं या जो उसके अंतर्गत नहीं हो सके, वह छोड़ दिए गए हैं। इनका उदय संवत् ९०० के लगभग हुआ है। प्रकरणग्रंथों में न्यायसूत्र, तर्कसंग्रह और भाषापरिच्छेद मुख्य हैं। इसके पश्चात् मिथिला में नव्य न्याय का उदय हुआ। इनका काल तेरहवीं शताब्दो से प्रारंभ होता है। इसके प्रथम आचार्य गंगेश उपाध्याय हैं और तत्त्वचितामणि इनका मुख्य ग्रंथ है। प्रकरणग्रंथों में न्याय और वैशेषिक के पदार्थों के मिलान का प्रयत्न किया गया है। नव्य न्याय में उस प्रयत्न को अयुक्त

मानकर छोड़ दिया है। प्रत्यक्ष के संबंध में जो विवेचना की गई है, उसमें वैशेषिक का विशेष प्रभाव है। नव्य न्याय में न्याय के पदार्थों को मानकर उनमें प्रमाणों का विशेषीकरण किया गया है। प्रमाणों को केवल माना ही नहीं, वरन् उनके प्रामाण्य की भी विशेष विवेचना की गई है। व्याप्ति की केवल विस्तृत व्याख्या ही नहीं की गई, वरन् उसकी प्राप्ति के उपायों पर भी विचार किया गया है। इस विवेचना में बहुत से पारिभाषिक शब्द भी बन गए जिनका प्रयोग साधारण मनुष्य की बुद्धि को चक्कर मे डाल देता है। सोलहवीं शताब्दी मे वासुदेव सार्वभौम द्वारा नव्य न्याय का बंगाल में प्रचार हुआ। नवद्वीप नव्य न्याय का केंद्र बन गया और अभी तक वह नव्य न्याय के अध्ययन के लिये मुख्य स्थान है। प्राचीन न्याय के लिये काशी मुख्य केंद्र है। बंगाल के नव्य न्याय मे भी तत्त्वचिंतामणि और उसकी टीकाएँ मूलाधार स्वरूप हैं। अब वह समय आ गया है जब कि संस्कृत का आधार लेते हुए भाषा में न्याय ग्रंथों की रचना होनी चाहिए। भित्ति प्राचीन रहे, किंतु ग्रंथ स्वतंत्र रूप से लिखे जायँ; और जो कुछ पाश्चात्य तर्क मे उपादेय है, वह भी न छोड़ा जाय। भाषा में न्याय के अनुशीलन से उसमे मौलिकता आ जायगी और वह मौलिकता उसके विकास का कारण होगी।

परिशिष्ट (ख)

साहित्य-सूची

प्राचीन न्याय

ग्रंथ	ग्रंथकार
१ न्यायसूत्र	महर्षि गौतम
२ न्यायसूत्र भाष्य	वात्स्यायन मुनि
३ न्याय वार्तिक	उद्योतकराचार्य
४ न्याय वार्तिकतात्पर्य टीका	वाचस्पति मिश्र
५ न्यायवार्तिक तात्पर्य परिशुद्धि	उदयनाचार्य
६ परिशुद्धिप्रकाश	वर्धमान
७ वर्धमानेन्द्र	पद्मनाभ मिश्र
८ न्यायालङ्कार	श्रीकंठ
९ न्यायालङ्कार वृत्ति	जयंत भट्ट
१० न्यायमञ्जरी	,, ,,
११ न्यायवृत्ति	विश्वनाथ
१२ मितभाषिणी वृत्ति	महादेव वेदांती
१३ न्यायप्रकाश	केशव मिश्र
१४ न्यायबोधिनी	गोवर्धन
१५ न्यायसूत्रव्याख्या	मथुरानाथ

वैशेषिक सिद्धांत

ग्रंथ	ग्रंथकार
१६ वैशेषिक सूत्र	महर्षि कणाद
१७ वैशेषिक भाष्य	प्रशस्तपादाचार्य
१८ न्यायकंदली (प्रशस्तपादभाष्य टीका)	श्रीधराचार्य
१९ किरणावली	उदयनाचार्य
२० व्योमवती	व्योमशिवाचार्य
२१ किरणावली प्रकाश	वर्धमानोपाध्याय
२२ लीलावती	श्रीवत्साचार्य
२३ सप्तपदार्थी	शिवादित्य मिश्र
२४ पदार्थचद्रिका (सप्तपदार्थी की टीका)	शेषांत
२५ मितभाषिणी	मध्य सरस्वती
२६ आत्मतत्त्व	उदयनाचार्य
२७ दीधिति (आत्मतत्त्व की टीका)	रघुनाथ तार्किकशिरोमणि
२८ कल्पलता (आत्मतत्त्व की टीका)	शंकर मिश्र
२९ गदाधरी	गदाधर भट्टाचार्य
३० बौद्धाधिकार (दीधिति की व्याख्या)	”

ग्रंथ	ग्रंथकार
३१ न्यायकुसुमाञ्जलि	पं० उदयनाचार्य
३२ न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश	वर्धमानोपाध्याय
३३ न्यायकुसुमाञ्जलिव्याख्या	परमहंस नारायण तीर्थ
३४ मकरंद (प्रकाश की टीका)	रुचिदंत

प्रकरण ग्रंथ

३५ (१) न्यायसार	भा सर्वज्ञ

न्यायसार की टीकाएँ

३६ (२) न्यायभूषण	पुस्तक अप्राप्य; किंतु कई ग्रंथों में इसका उल्लेख है।
३७ (३) न्यायकलिका	जयंत
३८ (४) न्यायकुसुमाञ्जलितर्क	पुस्तक प्राप्य; ग्रंथकर्ता का नाम अज्ञात।
३९ (५) न्यासार टीका	विजयसिंह
४० (६) न्यायसार टीका	जयतीर्थ
४१ (७) न्यायसारपदपञ्जिका	वासुदेव
४२ (८) न्यायसार विचार	भट्टराघव
४३ तर्क भाषा	केशव मिश्र
४४ तर्क भाष्य टीका	गोवर्धन मिश्र
४५ प्रकाशिका	चिन्नुभट्ट

ग्रंथ	ग्रंथकार
४६ लघुदीपिका	माधवाचार्य
४७ तार्किकरक्षा	वरदराज

तार्किकरक्षा की टीकाएँ

४८ (१) तर्कामृत	जगदीश तर्कालङ्कार
४९ (२) निष्कंटिका	पं० मल्लिनाथ
५० (३) न्यायकौमुदी	विनायक भट्ट
५१ (४) तार्किकरक्षा व्याख्या	पंडित हरिहर
५२ भाषा परिच्छेद और न्याय-सिद्धांतमुक्तावलि	पं० विश्वनाथ

न्यायसिद्धांतमुक्तावली की टीकाएँ

५३ (१) रौद्री	रुद्र भट्टाचार्य
५४ (२) प्रकाश	महादेव भट्ट और दिनकर भट्ट
५५ (३) रामरुद्री प्रकाश की व्याख्या	पं० रामरुद्र भट्टाचार्य
५६ तर्कसंग्रह	अन्नं भट्ट

तर्कसंग्रह की टीकाएँ

५७ (१) न्याय-बोधिनी	पं० रत्ननाथ
५८ (२) दीपिका	अन्नं भट्ट
५९ (३) व्याख्या	पं० मुरारि
६० (४) सिद्धांतचंद्रोदय	पं० श्रीकृष्ण धूर्जटि दीक्षित

ग्रंथ	ग्रंथकार
६१ (५) न्याय-बोधिनी	पं० गोवर्धन्
६२ (६) तर्कफक्किका	पं० क्षमा कल्याण
६३ (७) न्यायार्थलघुबोधिनी	गोवर्धन रंगाचार्य
६४ (८) तर्कसंग्रह टीका	पं० गौरीकांत
६५ (९) पदकृत्य	पं० चंद्रजसिंह
६६ (१०) निरुक्ति	पं० जगन्नाथ शास्त्री
६७ (११) निरुक्ति	पं० पट्टाभिराम
६८ (१२) चंद्रिका	मुकुंद
६९ (१३) भाष्यवृत्ति	पं० मेरु शास्त्री
७० (१४) तरङ्गिणी	पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद
७१ (१५) तर्कचंद्रिका	पं० वैद्यनाथ
७२ (१६) तर्कसंग्रह वाक्यार्थनिरुक्ति	पं० माधव पट्टाभिराम
७३ (१७) नीलकंठी टीका	पं० नीलकंठ
७४ (१८) तर्कसंग्रह टीका	गंगाधर भट्ट
७५ (१९) ,, ,,	जगदीश भट्ट
७६ (२०) ,, ,,	रामरुद्र भट्ट
७७ तर्कामृत	जगदीश तर्कालङ्कार
७८ तर्ककौमुदी	चौगांची भास्कर
७९ न्यायलीलावती	श्री वल्लभाचार्य
८० न्यायसिद्धान्तदीप	शशधर

अर्वाचीन न्याय

ग्रंथ	ग्रंथकार
८१ तत्त्वचिंतामणि	गङ्गेश उपाध्याय
तत्त्वचिंतामणि की टीकाएँ	
८२ (१) तत्त्वचिंतामणिप्रकाश	वर्धमान
८३ (२) तत्त्वचिंतामणिआलोक	पक्षधर मिश्र
८४ (३) तत्त्वचिंतामणिप्रकाश	रुचिदत्त
८५ (४) तत्त्वचिंतामणिमयूख	शंकर मिश्र
८६ (५) अनुमानखण्ड टीका	वाचस्पति मिश्र
८७ (६) तत्त्वचिंतामणिदीधिति	रघुनाथ शिरोमणि
८८ (७) तत्त्वचिंतामणिरहस्य	मथुरानाथ
८९ (८) तत्त्वचिंतामणिव्याख्या	गदाधर भट्टाचार्य
दीधिति की टीकाएँ	
९० (१) तत्त्वचिंतामणि-दीधिति टीका	रामरुद्र तर्कवागीश
९१ (२) तत्वचिंतामणि-दीधिति प्रकाशिका	गदाधर तर्कवागीश
९२ (३) दीधिति टीका	रघुदेव न्यायालङ्कार
९३ (४) तत्त्वचिंतामणि-दीधितिप्रकाशिका	रुद्र न्यायवाचस्पति
९४ (५) तत्त्व-चिंतामणि-दाधितिगूढ़ार्थविद्योतन	जयराम न्याय पञ्चानन

ग्रंथ	ग्रंथकार
९५ (६) तत्त्वचिंतामणि-दीधिति प्रकाशिका	जगदीश तर्कालङ्कार
९६ (७) दीधिति टीका	रामभद्र सार्वभौम
९७ (८) दीधितिरहस्य	मथुरानाथ तर्कवागीश
९८ (९) दीधितिप्रसारिणी	कृष्णदास सार्वभौम
९९ (१०) दीधितिप्रकाशिका	भवानंद सिद्धांत वागीश

आलोक की टीकाएँ

ग्रंथ	ग्रंथकार
१०० (१) आलोकरहस्य	मथुरानाथ तर्कवागीश
१०१ (२) मणिआलोक टिप्पणी	हरिदास न्यायालङ्कार भट्टाचार्य
१०२ (३) आलोककंटकोद्धार	मधुसूदन ठाकुर
१०३ (४) आलोकदर्पण	महेश ठाकुर
१०४ (५) आलोकपरिशिष्ट	देवनाथ ठाकुर
१०५ (६) अनुमान-आलोक-प्रसारिणी	कृष्णदास सार्वभौम
१०६ (७) शब्द-आलोक-	गुणानंद विद्यावागीश
१०७ (८) प्रत्यक्ष आलोक सारमञ्जरी	भवानंद सिद्धांत-वागीश
१०८ (९) आलोक टीका	गदाधर भट्टाचार्य

बौद्ध और जैन न्याय

बौद्ध

ग्रंथ	ग्रंथकार
१०९ प्रमाण-समुच्चय	आचार्य दिङ्नाग

टीकाएँ

ग्रंथ	ग्रंथकार
११० (१) प्रमाण-समुच्चय-वृत्ति	आचार्य दिङ्नाग
१११ (२) वार्तिककारिका	धर्मकीर्ति
११२ (३) वार्तिकवृत्ति	धर्मकीर्ति
११३ (४) वार्तिकपञ्जिका	देवेंद्र वोधि
११४ (५) वार्तिकपञ्जिका टीका	शाक्य वोधि
११५ (६) प्रमाणवार्तिक-वृत्ति	रविगुप्त
११६ (७) प्रमाणसमुच्चय टीका	जिनेंद्र वोधि
११७ (८) वार्तिकालङ्कार	प्रज्ञाकर गुप्त
११८ (९) वार्तिकालङ्कार टीका	जिन
११९ (१०) वार्तिकालङ्कार टीका	यमारि

जैन

ग्रंथ	ग्रंथकार
१२० (११) प्रमाण वार्तिक टीका	शङ्करानंद
१२१ न्यायावतार	सिद्धसेन दिवाकर
१२२ प्राप्तमीमांसा	सामंत भद्र
१२३ अष्ट सती	अकलङ्कदेव
१२४ आप्तमीमांसालङ्कृति (अष्टसाहस्री)	विद्यानंद
१२५ परीक्षामुखसूत्र	माणिक्यनंदी
१२६ प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचंद्र
१२७ नयचक्र	देवसेन भट्टारक
१२८ वादमहार्णव	अभयदेव सूरी
१२९ अष्टसाहस्रीविषय-पदतात्पर्यटीका	लघु सामंतभद्र
१३० प्रमाणनयतत्वा-लोकालङ्कार	देवसूरी
१३१ प्रमाणमीमांसा	हेमचंद्र सूरी
१३२ न्यायावतारवृत्ति	चंद्रप्रभा सूरी
१३३ न्यायप्रवेशकसूत्र	हरिभद्र सूरी
१३४ न्यायप्रवेशटिप्पण	श्रीचंद्र

ग्रंथ	ग्रंथकार
१३५ स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	रत्नप्रभा सूरी
१३६ स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिसेन सूरी
१३७ तर्करहस्यदीपिका	गुणरत्न
१३८ न्यायदीपिका	धर्मभूषण
१३९ नयकर्णिका	विनय विजय
१४० न्यायप्रदीप	यशोविजय
१४१ तर्क भाषा	,,
१४२ न्यायरहस्य	,,
१४३ न्यायामृततरंगिणी	,,
१४४ न्यायखंडनवाक्य	,,

नोट—यह साहित्य-सूची डाकृर सतीशचंद्र विद्याभूषण के भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास, वात्स्यायन भाष्य के भाषानुवाद की भूमिका में दी हुई साहित्य-सूची और डाकृर सतीशचंद्र कृत न्यायसूत्र के अँगरेजी अनुवाद की भूमिका के आधार पर बनाई गई है। यह साहित्य-सूची पूर्ण न समझी जाय। इसमें बहुत से ग्रंथों का उल्लेख नहीं है। भाषा में न्याय ग्रंथों का अभाव सा है। जो ग्रंथ मेरे देखने में आए हैं, वे ये हैं।

१४५ न्याय भाष्य का भाषानुवाद।

१४६ न्यायसिद्धांतमुक्तावली की हिंदी टीका, एक पंजाबी साधु कृत, निर्णयसागर प्रेस।

१४७ न्यायसिद्धांतमुक्तावली की हिंदी टीका, पूर्वार्ध, रामस्वरूप शर्म्मा मुरादाबाद-वालों की।

१४८ तर्कसंग्रह की हिंदी टीका।

१४९ न्यायप्रकाश, स्वामी चिद् घनानंद कृत।

१५० न्यायप्रकाश, डाकूर गंगानाथ झा कृत नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित।

१५१ सर्वदर्शनसंग्रह का भाषानुवाद, अक्षपाद दर्शन।

१५२ वैशेषिक दर्शन, प्रशस्तपाद भाष्य का भाषानुवाद, निर्णयसागर प्रेस।

१५३ वैशेषिक दर्शन, डाकूर गंगानाथ झा कृत नागरीप्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित।

परिशिष्ट (ग)

न्याय शास्त्र के कर्ता महर्षि गौतम का समय

भारतीय तर्कशास्त्र की पूर्ति के अर्थ तर्कशास्त्र के मूल आचार्य्य, न्यायसूत्रों के कर्ता, महर्षि गौतम के समय का विवेचन आवश्यक है। उनके समय का निर्णय होने से यह भी पता चल सकेगा कि भारतीय तर्कविद्या देशज है अथवा बाहर से लाई हुई है।

भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहासलेखक आचार्य्य डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण का मत है कि न्यायसूत्रों के कर्ता महर्षि गौतम नहीं वरन् अक्षपाद हैं। महर्षि गौतम आन्वीक्षिकी विद्या के कर्ता हैं और अक्षपाद न्यायसूत्रों के। महर्षि गौतम को इन्होंने 'मेधातिथि' गौतम बतलाया है और उनका समय खीष्ट-पूर्व ५५० वर्ष माना है; और अक्षपाद का समय १५० खीष्ट पश्चात् माना है। मेधातिथि—गौतम, अहिल्या के पति, मिथिला के रहनेवाले थे और अक्षपाद प्रभास क्षेत्र (काठियावाड़) के। यह बात ब्रह्मांड पुराण के निम्नोल्लिखित अवतरण के आधार पर मानी गई है—

सप्तविंशतिमे प्राप्ते परिवर्ते क्रमागते।
जातुकर्ण्यो यदा व्यासो भविष्यति तपोधनः।

तदाहं संभविष्यामि सोमशर्मा द्विजोत्तमः ।
प्रभासतीर्थमासाद्य योगात्मा लोकविश्रुतः ॥
तत्रापि मम ते पुत्रा भविष्यन्ति तपोधनाः ।
अक्षपादः कणादश्च उलूकीवत्स एव च ॥

आचार्य सतीशचंद्र विद्याभूषण ने गौतम और अक्षपाद को भिन्न समझने का जो दूसरा कारण दिया है, वह यह है कि भाष्यकार वात्स्यायन और उद्योत्कराचार्य ने अक्षपाद को ही न्यायशास्त्र का प्रवर्तक माना है।

यमक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद ।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतोः करिष्यते तत्र मया निबन्धः ॥

सर्वदर्शन-संग्रहकार माधवाचार्य ने भी न्यायशास्त्र का वर्णन करते हुए उसे अक्षपाद दर्शन कहा है। इन युक्तियों के द्वारा अक्षपाद को (गौतम से भिन्न) न्यायसूत्रों का कर्ता माना है।

यह अक्षपाद कब हुए, इसके विषय में आचार्यजी का कहना है कि नागार्जुन ने न्यायसूत्रों का खंडन किया है। इस कारण अक्षपाद नागार्जुन (प्रायः २५०—३५० खीष्ट पश्चात्) से पूर्व और चरक (७८ खीष्ट पश्चात्) से पीछे प्रायः १५० खीष्ट पश्चात् हुए होंगे। चरक में न्याय के सिद्धांतों का पूर्व रूप से वर्णन है। इससे वह पहले का ग्रंथ माना गया है। इसके अतिरिक्त न्यायसूत्रों में एक सूत्र (मंत्रायुर्वेद-प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यप्रामाण्यात्) आया है। उसमें आयुर्वेद शब्द का प्रयोग है जिससे वह चरक की ओर इशारा करता

हुआ मालूम होता है। अतः यह सूत्र चरक के पश्चात् के होंगे। अक्षपाद और गौतम के भिन्न भिन्न व्यक्ति होने का जो प्रमाण भिन्न निवासस्थान होने के आधार पर दिया गया है, वह केवल वायु पुराण पर निर्भर है। मिथिला में न्याय का अधिक प्रचार होने के कारण न्याय शास्त्र के कर्ता का जन्म मिथिला मे मानना अधिक तर्कसम्मत है। किंतु इन दोनों मतों की संगति देने के लिये दोनों को भिन्न भिन्न व्यक्ति मान लेना ही आवश्यक नहीं है। दो संभावनाएँ और हो सकती हैं। एक यह कि उनका जन्म मिथिला मे हुआ हो और प्रभास क्षेत्र की पवित्रता के कारण अपने जीवन के उत्तर काल में वहाँ रहने लगे हों। पीछे से वह वहीं के माने जाने लगे हो। अथवा यह हो सकता है कि उनका जन्म प्रभास तीर्थ में हुआ हो और उसके पश्चात् वह मिथिला मे रहने लगे हों। केवल इसी' स्थानभेद के कारण उनको भिन्न व्यक्ति मान लेना ठीक नहीं है।

इस संबंध में आचार्य सतीशचंद्र विद्याभूषण की एक और युक्ति यह है कि वात्स्यायन, उद्योतकराचार्य और माधवाचार्य-जी न अक्षपाद को न्यायशास्त्र का प्रवर्तक कहा है। इसका कारण यह हो सकता है कि महर्षि गौतम के अनुयायी उनका नाम न लेकर उनकी उपाधि को, विशेषकर ऐसी उपाधि को जिसमें कुछ गौरव हो (यदि व्यास के उनके चरणों में गिरने की कथा सत्य मानी जाय, और वैसे भी पैरों में आँख

होना एक अलौकिक विशेषता है) वे लिखना पसंद करेंगे। यदि किसी महान् पुरुष के अनुरक्त लोग उसका नाम न लिखकर केवल उपाधि ही लिखें तो वास्तविक नाम और उपाधि के धारण करनेवाले दो व्यक्ति न हो जायँगे। जिस प्रकार आचार्यों ने अक्षपाददर्शन कहा है, उसी प्रकार न्यायसूत्रों को गौतमसूत्र भी कहा है। न्यायसूत्र वृत्ति के अंत में न्यायसूत्रों की वृत्ति को गौतमसूत्र वृत्ति कहा है।

> एषा मुनिप्रवरगौतमसूत्रवृत्तिः
> श्रीविश्वनाथकृतिना सुगमाल्पवर्णा।
> श्रीकृष्णचंद्रचरणाम्बुजचञ्चरीक-
> श्रीमच्छिरोमणिवचः प्रचयैरकारि ॥

स्वयं माधवाचार्य, जिनका आचार्य महोदय आश्रय लेते हैं, यह बात प्रमाणित करते हैं कि अक्षपाद और गौतम एक ही व्यक्ति हैं। उन्होंने न्यायदर्शन को अक्षपाद दर्शन कहा है। किन्तु वही आगे चलकर कहते हैं—"तत्र प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निके भगवता गौतमेन प्रमाणादि पदार्थ-नवकलक्षणनिरूपणं विधाय" इत्यादि। माधवाचार्य ने वैशेषिक दर्शन को औलूक्य दर्शन कहा है; तो क्या कणाद और उलूक दो व्यक्ति हो गए?

इसके अतिरिक्त अन्य शास्त्रों और पुराणों के इतने प्रमाण मिलते हैं कि जिनसे पूर्णतया सिद्ध होता है कि महर्षि गौतम

ही न्यायसूत्रों के कर्त्ता हैं। यदि अक्षपाद हैं तो वह गौतम से भिन्न नहीं हैं। पद्मपुराण मे कहा है—

कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै॥

श्रीहर्ष ने भी न्याय के सम्बन्ध मे गौतम को (अत्यन्त गौ) कहकर महर्षि गौतम की हँसी उड़ाई है।

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे महामुनिः।
गौतमं तमवेत्यैव यथावित्थ तथैव सः॥

न्यायकोष अक्षपाद का इतिहास बतलाता हुआ गौतम और अक्षपाद की एकता बतलाता है।

"गौतमो हि स्वमतदूषकस्य व्यासस्य मुखदर्शनं चक्षुषा न कर्तव्यमिति प्रतिज्ञाय पश्चात् व्यासेन प्रसादितः पादे नेत्रं प्रकाश्य तं द्रष्टवान् इति पौराणिकी कथा।" व्यासजी को अपने मत का दूषक समझकर महर्षि गौतम ने प्रतिज्ञा की थी कि हम अपनी आँख से इनका मुँह न देखेंगे। पीछे से व्यास-जी ने गौतम को प्रसन्न कर लिया और चरणों मे गिर पड़े। तब उन्होंने अपने पैरों में दो नेत्र उत्पन्न कर व्यास का मुख देखा।

गौतम का अक्षपाद नाम पड़ने की एक और कथा है। वह यह है कि महर्षि एक बार विचार करते हुए कुँए मे गिर गए। ईश्वर ने अनुकंपा कर दो आँखें पैरों में दे दीं कि फिर वे ऐसी आपत्ति मे न पड़ें। कोई यह भी कहते हैं कि उनको कूएँ की ओर जाते हुए देख किसी ने व्यंग्य से कहा कि आपके

पैरों मे आँखे होतीं तो अच्छा होता जो आपके पैर ही राह देखते जाते। जो कुछ भी हो, अक्षपाद एक प्रकार की पदवी या दिया हुआ नाम था और उसके धारण करनेवाले महर्षि गौतम थे।

यह तो कर्त्ता के व्यक्तित्व की बात रही। अब देखना चाहिए कि सूत्रकार का जो समय आचार्य महोदय ने माना है, वह कहाँ तक मान्य है। केवल आयुर्वेद शब्द आ जाने से चरक का इशारा मान लेना उन्हीं लोगों का सा काम है जो निर्णय पहले कर लेते हैं और उसके लिये प्रमाण पीछे से ढूँढ़ते हैं। आचार्य सतीशचन्द्र विद्याभूषण की योग्यता के लिये देश को गौरव है और उनके प्रति लेखक का ऐसा कहना शोभा नहीं देता। किन्तु ऐसे मतों का यदि विरोध न किया जाय तो भी विशेष हानि होगी। आयुर्वेद एक विद्या है, न कि किसी ग्रंथविशेष का नाम। आयुर्वेद उपवेदों में माना गया है। देखिए श्रीमद्भागवत—

> आयुर्वेदं धनुर्वेदं गांधर्वं वेदमात्मनः।
> स्थापत्यं चासृजद् वेदं क्रमाद् पूर्वादिभिर्मुखैः॥

विष्णुपुराण में भी आयुर्वेद को अठारह विद्याओं में माना है।

> अङ्गानि चतुरो वेदा मीमांसा न्यायविस्तरः।
> पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दशाः॥

आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः ।
अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टा दशैव तु ॥

भाष्य एवं वृत्तिकार उस सूत्र मे आयुर्वेद शब्द से वैद्यक विद्या का ही अर्थ लगाते हैं, चरक वा सुश्रुत का नहीं। चरक मे जो अनुमान, निगमन, उपनय* आदि शब्द आए हैं, उनसे यही प्रतीत होता है कि चरक न्याय सिद्धांत के परिपक हो जाने के पश्चात् लिखा गया है। उपनय का अनुमान के सिद्धांत से विशेष संबंध है। उपनय शब्द द्रव्य गुण सामान्य की भाँति वैशेषिक का नहीं है, न्याय का ही शब्द है। चरक मे न्याय के शब्द प्रासंगिक रूप से आए हैं। न्याय चरक का विशेष विषय नहीं है। चरक में इनका उल्लेख मात्र है जिससे मालूम होता है कि यह सिद्धांत पहले से निश्चित और प्रचलित थे।

आचार्य महोदय का कथन है कि मेधातिथि गौतम के मत को चरक और अक्षपाद दोनों ने लिया—चरक ने पहले और अक्षपाद ने पीछे। आचार्य महोदय, मेधातिथि गौतम का आन्वीक्षिकी संबंधी कोई ग्रंथ विशेष नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि मेधातिथि गौतम का मत चरक में प्रतिफलित है अर्थात् चरक के द्वारा मेधातिथि गौतम के सिद्धांतों का ज्ञान होता है।

---

* वादो द्रव्यं गुणः कर्म सामान्यं विशेषः समवायप्रतिज्ञा-स्थापना हेतुः उपनयो 'सामान्यमुत्तरं दृष्टान्तःसिद्धान्तशब्दःप्रत्यक्षमौपम्य-मैतिह्यं अनुमानं संशयः ।

जब वही सिद्धांत न्यायसूत्रों में मौजूद है, तो केवल आचार्य महोदय की कल्पना विरोध के अतिरिक्त और क्या आपत्ति है जिससे यह न माना जाय कि चरक ने न्यायसूत्रों से लिया ? यदि यह कहा जाय कि चरक में वादविद्या के संबंध में कुछ ऐसी बातें हैं जो न्यायसूत्रों में नहीं हैं और उसके साथ यह भी मान लिया जाय कि वादविद्या न्यायविद्या से स्वतंत्र है, तो सिवा इस बात के कि आयुर्वेद शब्द न्यायसूत्रों में आ गया है, और क्या प्रमाण है कि न्यायसूत्र चरक से पीछे बने ? आयुर्वेद विषय है, ग्रंथ नहीं है। चरक संहिता के पूर्व आयुर्वेद के और भी ग्रंथ थे। पुनर्वसु आत्रेय को तो स्वयं आचार्य महोदय ने आयुर्वेद का आचार्य माना है और पुनर्वसु को पाणिनि का समकालीन माना है। फिर यह क्यों माना जाय कि आयुर्वेद से चरक संहिता ही अभिप्रेत है ?

हम यह मानने को तैयार हैं कि पूर्व काल में कोई वाद-विद्या न्यायविद्या से स्वतंत्र रही हो, किंतु इस बात के लिये कोई प्रमाण नहीं है कि मेधातिथि गौतम केवल न्याय से भिन्न वादविद्या के आचार्य थे। जो युक्ति और प्रमाण मेधा-तिथि गौतम के आन्वीक्षिकी या वादविद्या के प्रथम आचार्य होने के दिए गए हैं, ठीक उन्हीं युक्तियों से उनका न्यायशास्त्र का कर्ता होना माना जा सकता है।

आचार्य महोदय इन गौतम मेधातिथि का जन्मस्थान मिथिला में मानते हैं। मिथिला में एक ग्राम गौतमस्थान

के नाम से प्रख्यात है और वहाँ हर साल मेला लगता है। वहाँ पर गौतम कुंड है जिसमें से क्षीरोदधि नाम का नाला निकलता है। उस नाले का जल दूध का सा है। यह गौतम ही अहिल्या के पति थे। आचार्य विद्याभूषण ने जो और प्रमाण दिए हैं, उनसे स्पष्ट है कि गौतम न्याय के ही कर्ता हैं, आन्वीक्षिकी के नहीं। आचार्य महोदय ने खींच तान करके यह कहा है कि न्याय से उस विद्या का अर्थ है जो पीछे से न्याय कहलाने लगी। देखिए—In the Pratima Natak the poet Bhasa, who is believed to have flourished during the Kousana period, speaks of a sage named Medhatithi as the founder of the Nyaya Shastra, a later appellation for the Anwikshiki.

वह अवतरण इस प्रकार से है—

भोः काश्यपगोत्रोऽस्मि। साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यं अर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं, प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।

मालूम नहीं आचार्य महोदय को इस खींचतान की क्या आवश्यकता थी। आचार्यजी ने महाभारत से एक अवतरण दिया है जिससे यह सिद्ध होता है कि मेधातिथि और गौतम एक ही व्यक्ति हैं। वह अवतरण इस प्रकार है—

मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः।
विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्॥

आचार्य महोदय ने पद्मपुराण और स्कंदपुराण के जो अवतरण दिए हैं, उनसे भी यह सिद्ध होता है कि गौतम न्याय-शास्त्र के ही कर्ता हैं। इन प्रमाणों को न देकर यदि आचार्य महोदय कोई ऐसा प्रमाण देते कि मेधातिथि गौतम आन्वीक्षिकी के आचार्य हैं, तो उनकी कल्पना की अच्छी पुष्टि होती। इन प्रमाणों से तो उनके विपरीत कल्पना की ही पुष्टि होती है। अस्तु, उन प्रमाणों से लाभ उठा लेना कुछ अनुचित न होगा। वे इस प्रकार हैं—

कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै॥

पद्मपुराण।

गौतमः स्वेन तर्केण खण्डयन् तत्र तत्र हि॥

स्कंदपुराण।

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे महामुनिः।
गौतमं तमवेतैव यथा वित्थ तथैव सः॥

इस 'मुक्तये' से स्पष्ट है कि कवि का अभिप्राय न्यायसूत्र के कर्ता से है, क्योंकि न्यायसूत्रों का आरंभ ही मुक्ति की खोज में हुआ है। देखिए पहला सूत्र—

प्रमाणप्रमेय.. ....तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।

निःश्रेयस् अर्थात् परम श्रेयस् या मुक्ति ही प्रमाण आदि के ज्ञान का प्रयोजन है। इन सब प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि मेधातिथि गौतम और अक्षपाद गौतम एक ही थे। जिस

प्रकार अक्षपाद गौतम का नाम था, उसी प्रकार मेधातिथि भी था। अब इस विवेचना को न बढ़ाकर यह निश्चय करना है कि यह न्यायशास्त्र के कर्ता गौतम कब हुए।

गौतम, जैसा कि ऊपर कह आए हैं, अहल्या के पति थे। उनका नाम शतानंद भी था। उत्तररामचरित्र मे शतानंद और गौतम की एकता बताते हुए यह भी कहा है कि वह जनकजी के पुरोहित थे। "गौतमश्च शतानन्दो जनकानां पुरोहितः" और वाल्मीकीय रामायण से भी उनकी पुरोहिताई सिद्ध होती है।

शतानंदं पुरस्कृत्य पुरोहितमनिंदितः।
प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकस्य महात्मनः॥

यह शतानंद या गौतम अहिल्या के पति थे। इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि गौतम श्रीरामचंद्र के समकालीन थे। इस हिसाब से यह कम से कम चार या पाँच हजार वर्ष पहले हुए होंगे। किंतु हमारा अभिप्राय गौतम और न्यायसूत्र दोनों के समय का निर्णय करना है। अब यह देखिए कि न्यायसूत्रों के विषय में जो अन्य ग्रंथों की गवाही है, वह हमको कहाँ तक ले जाती है। ब्रह्मजाल-सूत्र में तार्किक ब्राह्मणों का उल्लेख आया है। वह नैयायिकों को ही लक्ष्य करते हैं।

"इध, भिक्खवे, एकच्चो समणा वा ब्राह्मणो वा तक्की होति वीमंसी। सो तक्कपरियाहतं वीमसानु चरित"। "सयं परिमानं एवं आहं"। "अधिच्च समुप्पन्नो अत्ताच लोको चाति"।

कथावत्थुपकरन में प्रतिज्ञा, निग्रहस्थान, उपनय आदि शब्द* आते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि न्याय के सिद्धांतों का उस समय खूब प्रचार हो चुका था। यह ग्रंथ अशोक के समय प्राय: २५० ख्रीष्ट पूर्व लिखा गया है।

पतंजलि के महाभाष्य में न्याय को मीमांसादिक शास्त्रों के साथ गिनाया है।

"सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदा: साङ्गा: सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखा: सहस्रवर्त्मा सामवेद: एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेद: वाको वाक्यमितिहास: पुराणं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि वैद्यक इत्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषय:।" पतंजलि १४० ख्रीष्ट पूर्व माने गए हैं। उनके समय में न्याय का इतना महत्व था कि उसको मीमांसा, धर्मशास्त्र और वैद्यक से ऊँचा स्थान दिया जाता था। इससे मालूम होता है कि न्याय विद्या उनसे बहुत पूर्व की है।

वात्स्यायन की पक्षिल स्वामी, कौटिल्य और चाणक्य से एकता की गई है। हेमचंद्र कृत अभिधानचिन्तामणि में इस प्रकार लिखा है—

वात्स्यायनो मल्लनाग: कौटिल्यश्चणकात्मज:।
द्रामिल: पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च स:॥

---

* न च मयतना तस्य हेतान परिञ्ञाय देवं परिजानन्ता देवं परिजान्ता देवं निग्गहेतब्बो।

पुरुषोत्तमदेव कृत त्रिकाण्ड-शेष कोष के ब्रह्मवर्ग में इस प्रकार लिखा है—

विष्णुगुप्तस्तु कौण्डिन्यश्चाणक्यो द्रामिलोऽङ्गुलः ।
वात्स्यायनो मल्लिनागपक्षिलस्वामिनावपि ॥

सर्वदर्शनसंग्रह से भी यह बात प्रमाणित होती है कि पक्षिल स्वामी तर्क के एक बड़े आचार्य थे । "पक्षिलस्वामिना च सेयमान्वीक्षिकी विद्या प्रमाणादिभिः पदार्थैः प्रविभज्यमाना" इत्यादि ।

न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका के आरम्भ मे लिखा है—

"अथ भगवता अक्षपादेन निःश्रेयसहेतौ शास्त्रे प्रणीते व्याख्याते च भगवता पक्षिलस्वामिना किमपरमवशिष्यते यदर्थं वार्तिकारम्भ" इत्यादि। इन सब प्रमाणों* से यह सिद्ध है कि वात्स्यायन और पक्षिल स्वामी एक ही हैं। पक्षिल स्वामी और चाणक्य की एकता कोष से सिद्ध होती है। चाणक्य या कौटिल्य को तर्कशास्त्र का अच्छा ज्ञान था। यह बात कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रतीत होती है। तंत्र युक्तियों का उल्लेख वात्स्यायन भाष्य और अर्थशास्त्र दोनों मे ही आया है और दोनों ही ने इनकी सख्या ३२ मानी है। चरक संहिता में इनकी संख्या ३४ मानी है ।

वात्स्यायन और चाणक्य की इस प्रकार समकालीनता सिद्ध हो जाने से वात्स्यायन का समय ३०० ईसा पूर्व बैठता है ।

---

* यह प्रमाण न्यायवार्तिक की पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी लिखित भूमिका से उद्धत किए गए हैं ।

वात्स्यायन भाष्य से यह भी प्रतीत होता है कि वात्स्यायन के पूर्व एक दो और भी भाष्यकार हुए हैं। इस हिसाब से न्याय-पूर्व ३०० वर्ष से पूर्व के सिद्ध होते हैं। अब यह प्रश्न उठता है सूत्र ईसा कि कितने पूर्व ? वायु पुराण का जो अवतरण ऊपर दिया जा चुका है, उससे पता लगता है कि अक्षपाद जातुकण्य व्यास के समकालीन थे। जातुकर्ण्य व्यास आसुरायन और यास्क के शिष्य थे। यह बात शतपथ ब्राह्मण के याज्ञवल्क्य कांड और मधु कांड से सिद्ध होती है*। यास्क का समय ५५० ईसा पूर्व माना गया है। इससे गौतम का भी समय ५५० ईसा पूर्व मानना चाहिए।

गौतम न्यायसूत्रों के भी और धर्मसूत्रों के भी कर्ता माने गए हैं। गौतमीय प्रतिमेध सूत्रों के टीकाकार अनंत याजवन ने धर्मसूत्रों के कर्ता गौतम और न्यायसूत्रों के कर्ता अक्षपाद को एक ही माना है। गौतम के धर्मसूत्र बहुत पुराने माने गए हैं। उनकी प्राचीनता सिद्ध करने में आचार्य सतीशचंद्र विद्याभूषण ने अपने न्यायसूत्र के अँगरेजी अनुवाद की भूमिका में बूहलर साहब का निम्नोल्लिखित अवतरण दिया है—

"These arguments which allow us to place Gautama before both Baudhayana and Vasistha

---

* जातुकर्ण्याज्जातुकर्ण्यो भारद्वाजाद् भारद्वाजो भारद्वाजाच्चासुरायणाच्च गौतमाच्च—गौतमो...... ......पाराशर्यात् पाराशर्यो जातुकर्ण्याज्जातुकर्ण्यो भारद्वाजाद् भारद्वाजो भारद्वाजाच्चासुरायणाच्च यास्काच्चासुरायण ।

are, that both these authors quote Gautama as an authority on law............These facts I think suffice to show that the Gautama Dharma Sutra may be safely declared to be the oldest of the existing works on sacred law." (Bublers Gautama, introduction, pages XLIX and LIV, S. B E Series).

मैक्डॉनल्ल साहब भी गौतम धर्मसूत्रों को ५०० ईसा पूर्व से पहिले का हो मानते हैं। देखिए—

"The latter (The Dharma Sutra of Baudhayana.) has indeed been shown to contain

* वौद्धायन धर्मसूत्रों की प्राचीनता इस प्रकार सिद्ध की गई है कि यह आपस्तंव सूत्रों के पूर्व के है और आपस्तंव सूत्र पाणिनि से पूर्व के है, क्योंकि उनमें पाणिनि के नियम नहीं लगते। पाणिनि कम से कम ३५० वर्ष ईसा पूर्व के माने गए है।

दूसरी युक्ति यह है कि बौद्धायन धर्मसूत्रों से यह प्रतीत होता है कि यह उस समय लिखे गए थे जब कि आर्य सभ्यता उत्तर से दक्षिण पहुँच गई थी, किंतु उसकी पूरी विजय नहीं हुई थी। यह महाशय उत्तरी सभ्यता के नियमों की बुराई करते है। जिस समय मेगास्थिनीज़ अशोक के दरबार में आया था, उस समय दक्षिण मे आर्य्य सभ्यता पूर्णतया स्थापित हो चुकी थी। यह समय ३०० वर्ष ईसा पूर्व का था। गौतम ने उत्तरी सभ्यता की तारीफ़ की है और बौद्धायन ने गौतम के अवतरण दिए है, इसलिये गौतम बौद्धायन से इतने काल पूर्व के हैं कि जितने समय में आर्य्य सभ्यता उत्तर से दक्षिण मे गई हो। यह बात निर्विवाद है कि गौतम सूत्र ४०० वर्ष ईसा पूर्व के है।

two passages based on, or borrowed from Gautama's work, which is the oldest Dharma Sutra that has been preserved, or at least published, and can hardly date from later than about 500 B. C."

धर्मसूत्रों और न्यायसूत्रों के कर्ता एक ही गौतम होने के विषय मे हम पूर्व में लिख चुके हैं। इससे एवं वात्स्यायन और पतञ्जलि आदि के काल संबधिनी युक्तियों से गौतम का काल ईसा से ५५० वर्ष पूर्व निश्चित होता है।

आचार्य सतीशचंद्र विद्याभूषण ने भी न्यायसूत्रों के स्वरचित अँगरेजी अनुवाद की भूमिका में गौतम का समय ५५० ईसा पूर्व माना है। उनका यह ग्रंथ भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास से ७ वर्ष पीछे छपा है। पहले जिस मत का खण्डन किया गया है, वह भारतीय तर्कशास्त्र के इतिहास में दिए हुए मत का है। आचार्य महोदय ने अपने इतिहास मे गौतम और अक्षपाद को दो व्यक्ति माना है और न्यायसूत्र के अँगरेजी अनुवाद की भूमिका में गौतम और अक्षपाद को एक ही व्यक्ति माना है।

"These facts lead us to conclude that Gotama, Gautama or Aksapad, the founder of Nyaya Philosophy, lived about the year 550 B. C."

ऊपर जो विवेचना की गई है, उसके अनुसार वर्तमान लेखक के मत से भी न्यायसूत्रो के कर्ता गौतम का समय ५५० वर्ष ईसा पूर्व निश्चित होता है।

न्यायविद्या इससे भी पूर्व रही है, जैसा कि उपनिषदों से दिए हुए अवतरणों से ऊपर बताया जा चुका है।

यदि ऊपर की विवेचना मे कुछ सार है और यदि न्याय-सूत्र ५५० ईसा पूर्व के माने जायँ तो निःसंदेह भारतीय न्याय-शास्त्र का उदय और विकास यूनानी प्रभाव से स्वतंत्र हुआ है; क्योंकि यूनानी तर्कशास्त्र के जन्मदाता ईसा से करीब ३०० वर्ष पूर्व हुए हैं। वह समय न्यायसूत्र का नहीं वरन् न्याय-सूत्र के भाष्य का है। इसके अतिरिक्त केवल दो चार बातों मे विचार-समता पर यह अनुमान करना कि इसपर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है, अनुचित है। विचार-समता से दोनों बातें सिद्ध हो सकती हैं; और जब गौतम का समय पूर्व बैठता है, तो यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि भारतवर्ष से तर्क विद्या यूनान को सिकंदर के साथ गई। किंतु हम यह मानते हैं कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को बुद्धि दी है। समय और अवकाश मिलने पर जिन विद्याओं का विकास इस देश में हुआ, उनका विकास अन्य देशों में भी हो सकता है। दूसरी बात यह है कि न तो भारतवर्ष मे ही महर्षि गौतम के पूर्व तर्क-शास्त्र के सिद्धांतों का नितांत अभाव था और न यूनान में अरस्तू के पूर्व तर्क-विद्या निर्बीज थी। दोनो देशों मे स्वतंत्र रूप से

आध्यात्मिक वाद विवाद और विवेचन का तारतम्य चला आता है और उन्हीं से दोनो देशों में तर्कशास्त्र का स्वतंत्र रूप से उदय हुआ। हमारे मत से महर्षि गौतम और आचार्य गौत्तम की पद्धतियों में मौलिक भेद है। गौत्तमीय तर्क वस्तु की ओर झुका है और अरस्तू का आकारवाद की ओर। यदि गौतमीय तर्क पर अरस्तू का प्रभाव पड़ा होता तो उसमें अरस्तू के माने हुए आकार अवश्य आ जाते। गौतमीय अनुमान में पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट का जो भेद है, वह यूनानी तर्क मे नहीं पाया जाता। हमारी यह ध्रुव धारणा है कि भारतवर्ष में तर्कशास्त्र का स्वतंत्र रूप से उदय हुआ और हमको उसी पद्धति के अनुसार उन्नति करने के लिये स्थान है।

परिशिष्ट (घ)

स्याद्वाद

द्वितीय भाग के अंत मे विज्ञान की सीमाओं की विवेचना करते हुए अनेकांत-वाद से संबंध रखनेवाले नयों की व्याख्या कर दी गई है। स्याद्वाद भी इसी जैन-अनेकांत-वाद से संबंध रखता है।

किसी वस्तु के संबंध में हाँ या ना कहने के लिये अनेक दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि से उसी वस्तु को सत् कह सकते हैं और दूसरी दृष्टि से उसे असत् कहेंगे। जब एक वस्तु को देखने के अनेक कोण हैं और उनके हिसाब से वस्तु के विषय में कई बातें कही जा सकती हैं, तो किसी एक दृष्टि से कही हुई बातों को निश्चयता का रूप नहीं दे सकते। निश्चयता का रूप देना अन्य दृष्टियों की सत्ता को अस्वीकार करना है। इसी लिये हमको किसी वस्तु के विषय मे हाँ या ना कहने से पूर्व स्यात् लगा देना चाहिए। यह अनिश्चयता ही सत्य है। प्रत्येक विशेष-दृष्टि को भंग कहते हैं। नीचे जैन आचार्यों के माने हुए सात भंग दिए जाते हैं।

(१) स्यादस्ति — शायद है।
(२) स्यान्नास्ति — शायद नहीं है।

(३) स्यादस्तिनास्ति शायद है और शायद नहीं है।
(४) स्यादवक्तव्यं शायद अवक्तव्य है।
(५) स्यादस्ति अवक्तव्यं शायद है और अवक्तव्य है।
(६) स्यान्नास्ति अवक्तव्यं शायद नहीं है और अवक्तव्य है।
(७) स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्यं शायद है और नहीं है और अवक्तव्य भी है।

हाँ और नहीं के इतने ही प्रकार हो सकते हैं। सबसे पूर्व स्याद् लगाने की दो आवश्यकताएँ पड़ती हैं एक तो यह कि यदि 'शायद' न लगाया जाय तो उससे यही प्रतीत होगा कि यही एक दृष्टि है। शायद के लगाने से और दृष्टियों के लिये भी गुंजाइश रहती है। अब एक उदाहरण से यह बतलाया जायगा कि घट के लिये "स्यादस्ति" या "स्यान्नास्ति" इस प्रकार कह सकते हैं कि—घड़ा जहाँ पर और जिस समय और जिन गुणों से युक्त है, अस्तित्व रखता है। यदि स्याद् न कहे तो उसका अर्थ यह होगा कि उसमें किसी बात का अभाव नहीं है। घट मे घट के अतिरिक्त और पदार्थों के विशेष गुणों का अभाव है और वह सब स्थानों में पाया भी नहीं जाता। इसलिये उस अंश मे उसके लिये "स्यान्नास्ति" भी ठीक है। घड़ा किसी काल और किसी देश मे रहता है, इस हेतु उसके लिये पूर्णतया "घटोस्ति" भी नहीं कह सकते। जब घट के लिये "अस्ति" और "नास्ति" दोनों ही बातें एक एक अंश में कही जा सकती

हैं, तो उसके लिये यही कहना ठीक है कि शायद घड़ा है और शायद घड़ा नहीं है। यदि घड़े की सामग्री (स्थायी अंश मृत्तिकादि) की ओर दृष्टि डालते हैं तो घडा है; और यदि पर्याय अर्थात् आकारादि अस्थायी अंशों की ओर दृष्टि डालते हैं तो वह नहीं है।

जैसा कि ऊपर वतलाया गया है, एक हिसाब से घड़ा है और दूसरे हिसाव से नहीं है। यदि इन दोनों दृष्टियों को एक साथ मिला दिया जाय तो यही कहना होगा कि घडा अवक्तव्य है। यदि यह कथन पहली दृष्टि के साथ मिला दिया जाय तो हमको कहना होगा कि घड़ा शायद है और अवक्तव्य है; क्योंकि उपादान कारण के संवंध से तो घड़ा है ही। अर्थात् घट के आकार का नाश होने पर भी मिट्टी रहती है, किंतु यदि उसके पर्याय और द्रव्य दोनों ही के संवंध में कहा जाय तो घड़ा अवक्तव्य है। यदि 'अवक्तव्यता'' दूसरी दृष्टि अर्थात् "स्यान्नास्ति" के साथ मिलाई जाय तो कहना होगा कि शायद घड़ा "पर्यायरूपेण" नही है; द्रव्य और पर्याय दोनों को मिलाकर अवक्तव्य है। यदि अवक्तव्यता को स्यादस्ति स्यान्नास्ति की पृथक् पृथक् दृष्टि के साथ मिलाया जाय तो यह कहा जायगा कि शायद घड़ा है और नहीं है और अवक्तव्य है।

अंधों के समाज का जो हाथी का दृष्टांत है, वह इस "सप्त-भंगी न्याय" का एक मोटा उदाहरण है। एक दृष्टि को ही

पूर्ण मान लेना भूल है। जैनों के "अनेकात-वाद" ने एक प्रकार से मनुष्य की दृष्टि को विस्तृत कर दिया है, किंतु व्यवहार मे हमको निश्चयता के आधार पर ही चलना पड़ता है। यदि हम पैर बढ़ाने से पूर्व पृथ्वी की दृढ़ता के "स्याद-स्ति स्यान्नास्ति" के फेर में पड़ जायँ तो चलना ही कठिन हो जायगा। "स्याद्वाद" से हमको केवल इतना ही लाभ उठाना चाहिए कि हम यह भूल न जायँ कि जो कुछ हम कर रहे हैं, उसके अतिरिक्त और कोई बात सत्य नहीं है। जिस दृष्टि से हम जो बात कह रहे हैं, वह सत्य है।

हमारी दृष्टि के अतिरिक्त और भी दृष्टियाँ हो सकती हैं और उनके अनुसार और भी बाते सत्य हो सकती हैं और सत्य समझी जायँगी। यदि सब लोग ऐसा समझ लें तो वाद-विवाद बहुत अंशों मे घट जाय। किंतु दो बातों मे वाद-विवाद होने की संभावना अवश्य रहेगी। पहली यह कि जिस दृष्टि से हम जो बात कह रहे हैं, वह उससे सत्य है या नहीं; क्योंकि यह बात संभव है कि हम अनुमान मे भूल कर रहे हों।

दूसरी बात, जिस पर वाद-विवाद हो सकता है, यह है कि जिस दृष्टि से हम देख रहे हैं, वह दृष्टि प्रधान है अथवा दूसरी दृष्टि ? जो दृष्टि जिस समय के लिये प्रधान है, वही सत्य मानी जायगी।

उदाहरण लीजिए—

यदि कोई लोहे की वस्तु बहुत कारीगरी से बनाई गई हो तो द्रव्य न्याय से उसका मूल्य बहुत थोड़ा है, और पर्याय न्याय से उसका मूल्य बहुत अधिक है। यदि हम उस वस्तु को लेना चाहें तो हम उसके स्थायी द्रव्य का मूल्य न लगाकर उसकी अस्थायी कारीगरी रूप पर्याय का ही मूल्य लगावेंगे। उस समय केवल द्रव्य का मूल्य लगाना बनानेवाले के साथ अन्याय होगा। द्रव्य की दृष्टि से खरीदनेवाला यह झगड़ा कर सकता है कि इसका मूल्य बहुत ही थोड़ा है। किंतु उस समय उसकी द्रव्य की दृष्टि प्रधान नहीं होगी; इसलिये हमको उसकी कारीगरी के ही अनुसार दाम देना उचित होगा। अस्तु; नय एवं भंग को मानते हुए भी हमको बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। अनेकांतवाद के आधार पर किसी अप्रधान दृष्टि को लेकर हठ या वाद-विवाद करना सप्त-भंग का दुरुपयोग होगा।
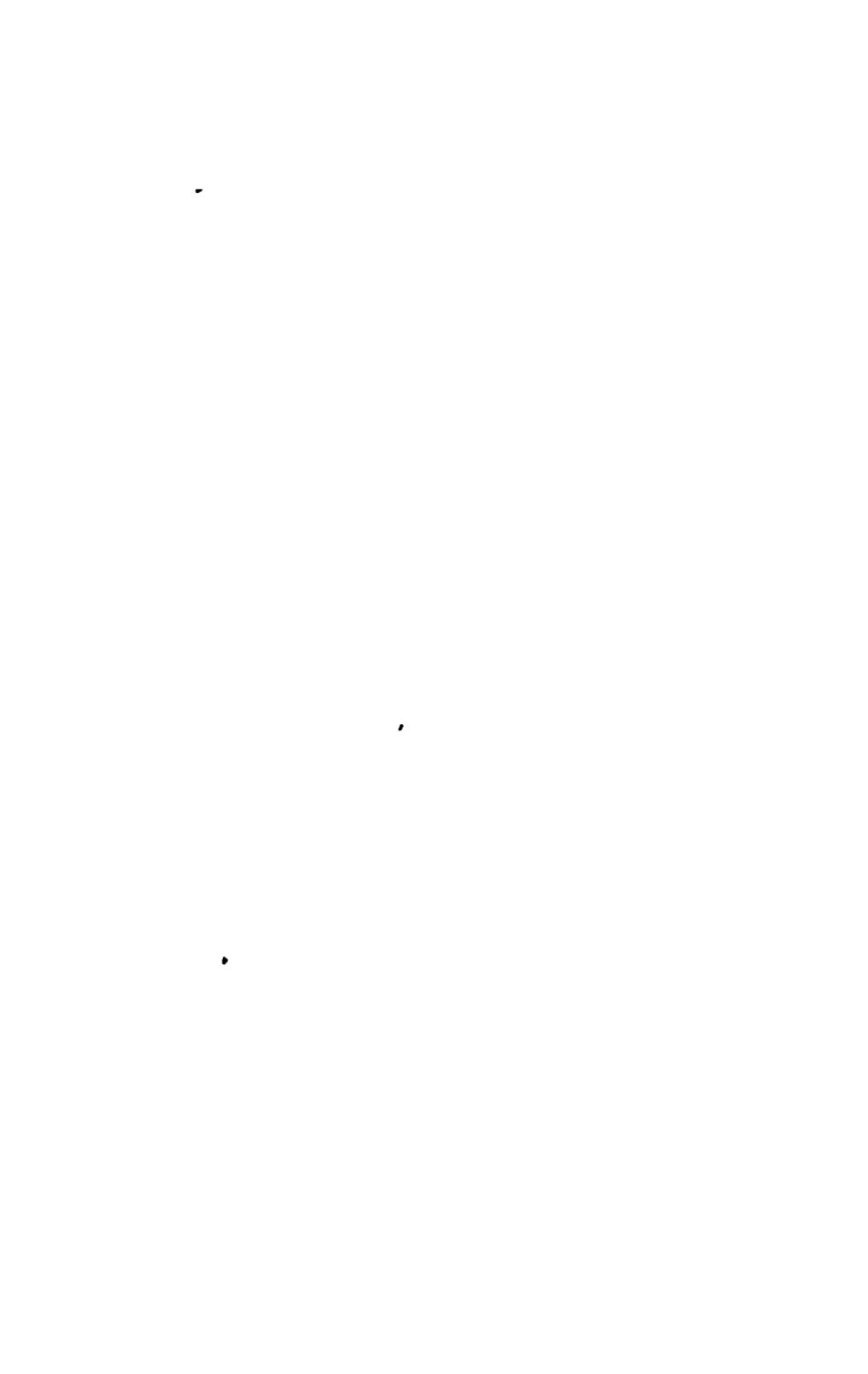
मनोरंजन पुस्तकमाला

अब तक निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं—

(१) आदर्श जीवन—लेखक रामचंद्र शुक्ल।

(२) आत्मोद्धार—लेखक रामचंद्र वर्म्मा।

(३) गुरु गोविंदसिंह—लेखक वेणीप्रसाद।

(४) आदर्श हिंदू १ भाग—लेखक मेहता लज्जाराम शर्म्मा।

(५) ,, २ ,, ,, ,,

(६) ,, ३ ,, ,, ,,

(७) राणा जंगबहादुर—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा।

(८) भीष्म-पितामह—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।

(९) जीवन के आनंद—लेखक गणपति जानकीराम दूबे बी० ए०।

(१०) भौतिक-विज्ञान—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०, एल० टी०।

(११) लालचीन—लेखक बृजनंदन सहाय।

(१२) कबीर-वचनावली—संग्रहकर्त्ता अयोध्यासिंह उपाध्याय।

(१३) महादेव गोविंद रानडे—लेखक रामनारायण मिश्र बी० ए० ।

(१४) बुद्धदेव—लेखक जगन्मोहन वर्म्मा ।

(१५) मितव्यय—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।

(१६) सिक्खों का उत्थान और पतन—लेखक नंदकुमार देव शर्म्मा ।

(१७) वीरमणि—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए० ।

(१८) नेपोलियन बोनापार्ट—लेखक राधामोहन गोकुलजी ।

(१९) शासनपद्धति—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार ।

(२०) हिन्दुस्तान भाग १—लेखक दयाचंद्र गोयलीय बी० ए० ।

(२१) " भाग २— " " ।

(२२) महर्षि सुकरात—लेखक वेणीप्रसाद ।

(२३) ज्योतिर्विनोद—लेखक संपूर्णानंद बी० एस-सी०, एल० टी० ।

(२४) आत्मशिक्षण—लेखक श्यामविहारी मिश्र एम० ए० और शुकदेवविहारी मिश्र बी० ए० ।

(२५) सुंदरसार—संग्रहकर्त्ता पुरोहित हरिनारायण शर्मा बी० ए० ।

(२६) जर्मनी का विकास भाग १—लेखक सूर्यकुमार वर्मा ।

(२७) जर्मनी का विकास भाग २—लेखक सूर्यकुमार वर्मा।

(२८) कृषिकौमुदी—लेखक दुर्गाप्रसादसिंह ।

(२९) कर्त्तव्यशास्त्र—लेखक गुलाबराय एम० ए०, एल-एल० बी० ।

(३०) मुसलमानी राज्य का इतिहास भाग १—लेखक मन्नन द्विवेदी बी० ए० ।

(३१) " भाग २— " "

(३२) रणजीतसिंह—लेखक वेणीप्रसाद ।

(३३) विश्वप्रपंच भाग १—लेखक रामचंद्र शुक्ल ।

(३४) " भाग २— " "

(३५) अहिल्याबाई—लेखक गोविंदराम केशवराम जोशी ।

(३६) रामचंद्रिका—संकलनकर्ता भगवानदीन ।

(३७) ऐतिहासिक कहानियाँ—लेखक द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी।

(३८) हिंदी निबंधमाला भाग १—संग्रहकर्त्ता श्यामसुंदर-दास बी० ए०।

(३९) " भाग २— " "

(४०) सूरसुधा—संपादक मिश्रबंधु ।

(४१) कर्त्तव्य—लेखक रामचंद्र वर्म्मा ।

(४२) संक्षिप्त राम-स्वयंवर—लेखक ब्रजरत्नदास ।

(४३) शिशु-पालन—लेखक डाक्टर मुकुंदस्वरूप वर्म्मा ।

(४४) शाही दृश्य—लेखक मक्खनलाल गुप्त गर्क।

(४५) पुरुषार्थ—लेखक जगन्मोहन वर्मा।

(४६) तर्कशास्त्र पहला भाग—लेखक गुलाबराय एम० ए०, एल-एल० बी०।

(४७) तर्कशास्त्र दूसरा भाग— " "

(४८) " " तीसरा भाग— " "

(४९) प्राचीन आर्यवीरता—लेखक चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्म्मा।

(५०) रोम का इतिहास—लेखक प्राणनाथ विद्यालंकार।

———